

उसके असत्य बोलनेका कोई कारण नहीं है। वह धर्म निश्चय और व्यवहार रूपसे कहा जाता है, निश्चयसे वस्तुका जो स्वभाव है वही धर्म है। जैसे आत्माका चैतन्य स्वभाव ही उसका धर्म है। किन्तु संसार अवस्थामें वह चैतन्य-स्वभाव तिरोहित होकर गति इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओंमें चौदह गुणस्थानोंके द्वारा विभाजित होकर नाना रूप हो गया है। यद्यपि द्रव्य दृष्टिसे वह एक ही है। इसलिए चौदह मार्गणा-स्थानोंमें चौदह गुणस्थानोंके द्वारा जो उस स्वकतत्वका विचार किया जाता है वह भी धर्म ही है। उसके बिना विविध अवस्थाओंमें जीवतत्त्वका परिज्ञान नहीं हो सकता। इसीसे भगवान् जिनेन्द्रेदेवने जो धर्मोपदेश दिया है वह व्यवहार और निश्चयसे व्यवस्थापित है। इत्यादी रूपसे धर्मका चिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है ॥ ८० ॥

आगे कहते हैं कि धर्मका एकमात्र लक्षण अहिंसा है। इस अहिंसा धर्मका फल अविनाशी ससुख है, किन्तु यह धर्म दुर्लभ है और समय परमागमका प्राण है-

धर्मका लक्षण अहिंसा है। अहिंसा धर्मसे ही अविनाशी सुखकी प्राप्ति होती है। बाकीकी सभी विधि इसीके समर्थनके लिए है। इस संसाररूपी धोर बनमें यह अहिंसारूप धर्म ही अत्यन्त दुर्लभ है। यही सिद्धान्तके वाक्योंका प्राण है ॥ ८१ ॥

विशेषार्थ-जिनागममें कहा है-राग आदिका उत्पन्न न होना ही अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना हिंसा है। यह समस्त जिनागमका सार है। अहिंसाका यह स्वरूप बहुत ऊँचा है। लोकमें जो किसीके प्राण लेने या दुखानेको हिंसा और एशुसा न करनेको अहिंसा कहा आजा है वह तो उसका बहुत स्थूल रूप है। यथार्थ में तो जिन विकल्पोंसे आत्माके स्वभावका घात होता है वे सभी विकल्प हिंसा है और उन विकल्पोंसे शून्य निर्विकल्प अवस्था अहिंसा है। उस अवस्थामे पहुँचनेपर ही सच्चा स्थायी आत्मिक सुख मिलता है। यद्यपि उस अहिंसा तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जिनागमका सार यह अहिंसा है। आगममें अन्य जितने भी कब्रतादि कहे हैं वे सब अहिंसाके ही पोषणके लिए कहे हैं। इसीसे जिस सत्य वचनसे दूसरेके प्राणोका घात होता हो, उस सत्य वचनको भी हिंसा कहा है। ऐसा विचार करनेसे सदा धर्मसे अनुराग बना रहता है। इस प्रकार धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है ॥ ८१ ॥

अथानित्यताघनुप्रक्षाणां यां कांचिदिष्टामनुष्याय यनिरुद्धेन्द्रिमनःप्रसरस्यात्मन्यात्मनः  
संवेदनात् कृतकृत्यतामापन्नस्य जीवन्मुक्तिपूविकां परममुक्तिप्राप्तिमुपदिशति-

इत्येतेषु द्विषेषु प्रवचनदृगनुप्रेक्षमाणोऽधुवादि-

ष्वद्वा यत्क्वचिदन्तःकरणकरणजिद्वेत्ति यः स्वं स्वे ।

उच्चैरुच्चैःपदाशावरभवविधुराम्भोविराप्रिराज-

त्कार्तार्यर्ः पूतकीर्तिः प्रतपति स परैः स्वैर्गुणैर्लोकमर्घि ॥ ८२ ॥

द्विषेषु-द्वादशसू । अनुप्रेक्षमाणः-भावयन् । अधुवादिषु-  
अनित्याशरणसंसारैकत्वायत्वाशुच्यास्त्रवसंवरनिर्जरा लोकबोधिदुर्भधर्मस्वाख्यातत्पवेषु । उच्चैरुच्चैःपदेषु-

उन्नतोन्नतस्थानेषु नृपमहर्द्विक-देवचक्रिसुरेन्द्राहमिन्द्रगणधरतीर्थकरत्वलक्षणेषु । आशा-प्राप्त्याभिलाषः, तां  
घरति तथा वा अघरो निन्द्यः शुभाषुभकर्मनिबन्धनत्वात् । कीर्त्यार्था (कार्तथ्या)-कृतकृत्यता ।

उक्तं च-

सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमात्नोति ।

भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥ ( पुरुषार्थ, श्लो. १३ )

कीर्तिः- वाक्यशःस्तुतिर्नाम वा । स्वैर्गुणैः-सम्यक्त्वादिभिरष्टभिःसिद्धगुणैः ।

अथ-

अदुःखभावितं ज्ञानं हीयते दुःखसन्निधी ।

तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥ ( समाधितं. १०२ ) ॥ ८२ ॥

आगे कहते हैं कि इन अनित्यता आदि अनुप्रेक्षाओंमें-से अपनेको प्रिय जिस किसी भी अनुप्रेक्षाका ध्यान करके जो साधु अपनी इन्द्रियों और मनके प्रसारके रोकता है तथा आत्माके द्वारा आत्मामे आत्माका अनुभवन करके कृतकृत्य अवस्थाको प्राप्त करता है उसको प्रथम जीवन्मुक्ति, पश्चात् परममुक्ति प्राप्त होती है-

परमागम ही जिसके नेत्र हैं ऐसा जो मुमुक्षु अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्मस्वाख्यात तत्व इन बारह अनुप्रेक्षाओंमेंसे यथारुचि किसी भी अनुप्रेक्षाका तत्त्वतः चिन्तन करता हुआ मन और इन्द्रियोंको वशमें करके आत्माको आत्मामें आत्माके द्वारा जानता है वह पूतकीर्ति अर्थात् पवित्र वाणी दिव्यध्वनिका धारी होकर राजा महर्द्विक देव, चक्रवर्ती, सुरेन्द्र, अहमिन्द्र, गणधर, तीर्थकर आदि ऊँचे-ऊँचे पदोंकी प्राप्तिकी अभिलाषाके कारण निन्दनीय संसारके दुःखसागरके पारको प्राप्त करके शोभमान कृतकृत्य होता है और लोकके मस्तकपर विराजमान होकर उत्कृष्ट आत्मिक गुणोंसे प्रदीप्त होता है ॥ ८२ ॥

विशेषार्थ-अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनसे मन एकाग्र होता है और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं । मनके एकाग्र होनेसे स्व-संवेदनके द्वारा आत्माकी अनुभूति होती है । उसी आत्मनुभूतिके द्वारा जीवन्मुक्तदशा और अन्तमें परम मुक्ति प्राप्त होती है । उसी समय जीव कृतकृत्य कहलाता है । कहा है-जिस समय वह जीव समस्त विवर्तोसे रहित निश्चल चैतन्यको प्राप्त करता है, सम्यक् पुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति कर लेनेसे उस समय वह कृतकृत्य होता है । ऊपर ग्रन्थकार ने संसारको दुःखका समुद्र बतलाते हुए उसे इसलिए भी निन्द्य कहा है कि उसमें इन्द्र, अहमिन्द्र तथा तीर्थकर आदि पदोंकी अभिलाषा लगी रहती है । ये पद शुभकर्मका बन्ध किये

इत्यभिप्रेत्य विशेषसंख्यागर्भ परीषहसामान्यलक्षणामाचक्षणस्तज्जाधिकारिणी निर्दिशति-

दुःखे भिक्षुरुपस्थिते शिवपभाद् भ्रश्यत्यदुःखश्रितात्

तत्तन्मार्गपरिग्रहेण दुरितं रोद्घु मुमुक्षुर्नवम् ।

भोक्तुं च प्रतनं क्षुदादिवपुषो द्वार्विशर्ति वेदनाः

स्वस्थो यत्सहते परिषहजयः साध्यः स धीरैः परम् ॥ ८३ ॥

तन्मार्गः-शिवपथप्राप्त्युपायःसद्धानमियिवावत् । उक्तं च-

परीषहाघविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी ।

जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥ ( इष्टी. २४ )

प्रतनं-पुराणम् । क्षुदादिवपुषः-क्षुत्पिपासार्दशमषकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषघाशय्याक्रेधवध-  
याचनालाभरागतृणस्पर्शमलसत्कारपरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनस्वभावाः । वेदनाः-  
वेघन्तेऽनुभूयन्तेऽसदतोदयादि-कर्मोदयपरतन्त्रैः प्राणिभिरिति वेदनश अन्तर्वह्निद्रव्यपरिणामाः  
शारीरमानसप्रकृष्टपीडाहेतवः । स्वस्थः- स्वस्मिन् कर्मविविक्ते आत्मति तिष्ठन् । सहते-संक्लेशं दैन्यं च  
विनशनशुभवति । परिषहजयः । अस्य संयमतपोविशेषत्वादिहोपदेशः । उक्तं च-

परिषेढव्या नित्यं दर्शनचारित्ररक्षणे नियताः ।

संयमतपोविशेषास्तदेकदेशाः परीहाख्याः स्युः ॥ ( ) ॥ ८३ ॥

बिना मिलते नहीं है और बन्ध तो दुःखका ही कारण होता है । अतः इन पदोंकी आशा न रखनेवाला ही  
उस सर्वोच्च मुक्ति पदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥ ८२ ॥

आचार्य पूज्यपादने कहा है-दुःखोंका अनुभव किये बिना प्राप्त किया गया ज्ञान दुःख पड़नेपर  
नष्ट हो जाता है । इसलिए मुनिको शक्तिके अनुसार दुःखोंका साथ आत्माकी भावना करना चाहिए  
अर्थात् आत्मनुभवनकेसाथ दुःखोंको सहनेकी शक्ति भी होना चाहिए ।

इसी अभिप्रायसे परिषहोंकी संख्याके साथ परिषह सामान्यका लक्षण कहते हुए ग्रन्थकार  
उसको जीतनेका  
अधिकारी कौन है यह बतलाते हैं-

जिस साधुने सुखपूर्वक मोक्षमार्गकी साधना की है, दुःख उपस्थित होनेपर वह साधु  
मोक्षमार्गसे च्युत हो जाता है । इसलिए मोक्षका मार्ग स्वीकार करनेपर नवीन कर्मबन्धको रोकनेके लिए  
और पुराने कर्मोंको निर्जराके लिए भुख-प्यास आदि बाईस वेदनाओंको आत्मस्थ साधु जो सहता है उसे  
परीषहजय कहते हैं । वह परीषहजय केवल धीर वीर पुरुषोंकेद्वारा ही साध्य है कायर उसे नहीं सह सकते  
॥ ८३ ॥

विशेषार्थ-साधुको मोक्षमार्गकी साधना करते समय अचानक जो कष्ट उपस्थित हो जाते हैं,  
उन्हें परिषह कहते हैं । उनको जीतना अर्थात् उन कष्टोंसे खेदखिन्न न होकर शान्त भावसे उन्हें सहना  
परिषहजय है । उन्हें वही साधु सह सकता है जिसे कष्टोंको सहसनेका अभ्यास है । जिन्हें अभ्यास नहीं  
है वे सहन न कर सकनेसे मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं । इसीकेलिए अनशन, कायक्लेश आदि तप बतलाये हैं ।  
अतः परिषह भी संयम और तपका ही अंग है । इसीसे यहाँ उसका उपदेश किया जाता है । परिषहको  
जीतनेसे अन्य लाभ यह है कि नवीन कर्मोंका बन्ध रुकता है और पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है । कहा  
है-भुख आदिकी वेदनाका अनुभव न करनेसे तथा आत्ममें आत्माका उपयोग लगानेसे शुभ-अशुभ  
कर्मोंकी संवरपूर्वक शीघ्र निर्जरा होती है ॥ ८३ ॥

अथ बालव्युत्पत्त्यर्थ पुनस्तत्सामान्यलक्षणं प्रपन्न्यति-

शारीरमानसोत्कृष्टबाधहेतून ख्बुदादिकान् ।

प्राहुरन्तर्बहिद्रव्य-परिणामान् परिषहान् ॥ ८४ ॥

अन्तरित्यादि । क्षुदादयोऽतर्द्रव्यपरिणामाः शीतोष्णादयो बाहिर्द्रव्यपरिणामा इति यथासंभव योज्यम् ॥ ८४ ॥

अथ कालत्रयेऽपि कार्यारम्भस्य सर्वेषां सप्रत्यवायत्वाद् विघ्नोपतिपातेऽपि श्रेयोऽर्थिभिः प्रारब्धश्रेयी-  
मार्गान्नोपसर्तव्यमिति शिक्षार्थमाह-

स कोऽपि किल नेहाभुन्नास्ति नो वा भविष्यति ।

यस्य कार्यमविघ्नं स्यान्न्यक्कार्यो हि विधेः पुमान् ॥ ८५ ॥

किल-शास्त्रे लोके च श्रूयते । शास्त्रे यथा-स कि कोऽपीहाभूदस्ति भविष्याति वा यस्य निष्प्रत्य  
वायः कार्यारम्भः इति ।

लोके यथा-श्रेयांसि बहुविघ्नानीत्यादी । न्यक्कार्यः-अभिभवनीयः । ततो विघ्ननिष्पीभूय  
प्रेक्षापूर्वकारिभिः न जातु प्रारब्धं श्रेयः साधनमुज्झितव्यम् । यद्बाहया अप्याहूः-

प्रारभ्यते न खलू विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमगुणा नपरित्यजन्ति ॥

( नीतिशतक ७२ ) ॥ ८५ ॥

अल्प बुद्धिवालोंको समझानेकेलिए परीषहका सामान्य लक्षण फिरसे कहते हैं-

अन्तर्द्रव्य जीवके और बहिर्द्रव्य पुद्गलके परिणाम भूख आदिको, जो शारीरिक और मानसिक  
उत्कृष्ट पीड़ाके कारण हैं, उन्हें आचार्य परीषह कहते हैं ॥ ८४ ॥

विशेषार्थ-परीषह जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य के परिणाम है जो जीवकी शारीरिक और  
मानसिक पीड़ाके कारण है । जैसे भुख और प्यास जीवके परिणाम हैं और सर्दी-गर्मी पुद्गलके परिणाम  
हैं । इसी तरह अन्य परिषहोंके सम्बन्धमें भी जान लेना चाहिए । जीवको दुःख,दायक होते है । इन्हें की  
परीषह कहते हैं ॥ ८४ ॥

आगे शिषा देते हैं कि सदा ही कार्य प्रारम्भ करनेपर सभीको विघ्न आते है । इस लिए विघ्न  
आनेपर भी कल्याणके इच्छुक मनुष्योंके प्रारम्भ किये गये कल्याण-मार्गाके हटना नहीं चाहिए-

तीनों लोकोंमें ऐसा कोई भी न हुआ, न है और न होगा, जिसके कार्यमें विघ्न आये हों और  
कार्य निर्विघ्न हुआ हो । क्योंकि दैव पुरुषका तिरस्कार किया ही करता है ॥ ८५ ॥

विशेषार्थ-शास्त्रमें और लोकमें भी ऐसा ही सुना जाता है । शास्त्रमें कहा है-

इस लोकमें क्या कोई भी ऐसा मनुष्य हुआ, या है होगा जिसके कार्यके आरम्भ में विघ्न न  
आये हों-

लोकमें भी सुना जाता है-

-----

स कि कोऽपीहाभूदस्ति भविष्याति वा बन्धयस्याप्रत्यबायः कार्यारम्भः ।

श्रेयासि बहुविधनानि भवन्ति महतामापि ।

अथ क्लेशायासाभ्यां विहलीभवतो लोकद्वयेऽपि स्वार्थभ्रंश स्थादिति भीतिमुद्वावयन्नाह-

विप्लवप्रकृतिर्यः स्यात् क्लेशादायासतोऽथवा ।

सिद्धस्तस्यात्रिकर्ध्वसादेवामुत्रिकविप्लवः ॥ ८६ ॥

क्लेशात्-व्याध्यादिबाधातः । आयासतः-प्रारब्धकर्मश्रसात् । सिद्धः-निश्चिती निष्पन्नो वा । आत्रिकर्ध्वंसात्-

इह लोके प्राण्याभीष्टफलस्य कर्मारम्भस्य परलोकफलायर्कस्य वा तस्य विनाशात् ॥ ८६ ॥

अथ भृश पौनःपुन्येन वाप्युपसपीद्विः परिषहोपसगैरविक्षिप्यमाणचित्तस्य निश्रेयसपदप्राप्तिमुपकदशाति-

क्रियासमार्भिहारेणाप्यापतद्विः परिषहैः ।

क्षोभ्यते नोपसगैर्वार्कयोऽपवर्ग स गच्छति ॥ ८७ ॥

उपसर्गः- सुरनरतिर्यगचेतननिमित्तकैरसहपीडैरिविशेषैः ॥ ८७ ॥

अथ प्रागेवाभ्यस्तसमस्तपरीषहजयस्य महासत्वस्य क्रमक्षपितघात्यघातिकर्मणी  
लोकाग्रचूडामणित्वमुद्गृणाति-

बड़े पुरुषोंके भी शुभकार्यमें बहुत विघ्न आते हैं । किन्तु विघ्नोंसे डरकर कार्यको नहीं छोड़ना चाहिए । किसीने कहा है-

नीच पुरुष तो विघ्नोंके भयसे कोई कार्य प्रारम्भ ही नहीं करते । मध्यम पुरुष कार्यको प्रारम्भ करके विघ्न आनेपर छोड़ बैठते हैं । किन्तु उत्तम पुरुष विघ्नोंसे बारम्बार सताये जानेपर भी प्रारम्भ किये हुए कार्यको नहीं छोड़ते ।

अतः मोक्षके मार्गमें लगनेपर परीषहोसे घबराकर उसे छोड़ना नहीं चाहिए ॥ ८५ ॥

जो साधु कष्टों और श्रमसे व्याकुल हो उठता है उसका यह लोक और परलोक दोनों ही नष्ट होते हैं, ऐसा कहते हैं-

जो मनुष्य व्याधि आदिकी बाधासे अथवा प्रारम्भ किये हुए कार्यके श्रमसे घबरा जाता है उसका इसका लोक सम्बन्धी कार्यका विनाश होनेसे परलोक सम्बन्धी कार्यका विनाश तो सुनिश्चित ही है का अर्थात् इस लोकमें यदि कल्याण मार्गमें सफल होता कतो परलोकमें भी अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती । जब इसी लोकमें कुछ नहीं कर सका तो परलोकमें किसका फल भोगेगा ॥ ८६ ॥

जिस साधुका मन बारम्बार आनेवाले तीव्र परीषहों और उपसर्गोंसे भी विचलीत नहीं होता उसे ही मोक्षकी प्राप्ति होनेका उपदेश देते हैं-

अधिक रूपमें और बार-बार आ पड़नेवाले भूख-प्यास आदिकी परिषहोंसे तथा देव, मनुष्य, तियच और अचेतन पदार्थके निमित्तसे होनेवाले उपसर्गोंसे जो साधु घबराता नहीं है वही मोक्षकी जाता है ॥ ८७ ॥

आगे कहते हैं कि जिसने पहलेसे ही समस्त परीषहोंको जीतनेका अभ्यास किया है वह धीर-धीर पुरुष ही क्रमसे घाति कऔर अघाति क्रमोंका क्षय करके लोकके अग्र भागमें विराजमान होता है-

दृष्टान्त-भ. कु. च. ।

प्रारभ्यते न खलू विधनमयेन नीचै प्रारभ्य विधनविहता विरमन्ति मध्याः ।

विध्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुक्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥ -नीति शतक ७२ श्लोक.

सोढाशेषपरीषहोऽक्षतशिवोत्साहः सुदृग्वृत्तभाग्

मोहांशक्षणोत्वणीकृतबलो निसम्परायं स्फुरन् ।

शुक्लध्यानकुठारकृत्तबलवत्कर्मद्रमुलोऽपरं

ना प्रस्फोटितपक्षरे गु खगवघात्युर्ध्वमस्वा रजः ॥ ८८ ॥

अक्षतशिवोत्साहः- अप्रमत्तसंयत इत्यर्थः । तल्लक्षणं यथा-

णट्टासेसपसाओ वयगुणसीलेहि मंडिओ णाणी ।

अणुवसमओ अखवओ ज्ञाणणिणीणो हु अप्पमत्ती ॥ ( गो. जी. गा. ४६ )

सुदृग्वृत्तभाक् क्षपकश्रेयारोहणोन्मुख इत्यर्थः । मोहांशेत्यादि-

अपूर्वकरणादिगुणस्थानवर्तीत्यर्थः । निःसांपरायंस्फुरनद्ध-लोभाभावेन घोटमानः क्षीणमोह इत्यर्थः ।

शुक्लध्यानं-एकत्ववितर्कत्रीचारास्य मत्र । बलवत्कर्माणि- ज्ञानदर्शनावरणान्तरायासंज्ञानि । अपरं-

वेद्यायुर्नामगोत्ररूपमघातिकर्म । ना-द्रव्यतः पुमानेव । अस्त्वा-क्षिप्त्वा । रजोरेणुरिव-

स्वरूपोपवातपरिहारेणैवोपश्लोवावथानात् ॥ ८८ ॥

जिसने सब परीषहोंको सहन करनेकी क्षमता प्राप्त ही है, अर्थात् जो सब परीषहोंसे अभिभूत नहीं होता, जिसका मोक्षके प्रति उत्साह प्रतिक्षण बढ़ता हुआ है । जो क्षायिक सम्यक्त्व और सामायिक आदि चरित्रमें-से किसी एक चरित्रका आराधक है, चारित्र मोहके एकदेशका क्षय करनेसे जिसका बल बढ़ गया है, जो लोभका अभाव हो जानेसे प्रकाशमान है, जिसने शुक्लध्यानरूपी कुठारसे इतना वरण, दर्शनावरण, अन्तराय जैसे बलवान् घातिकर्मरूपी वृक्षकी जड़को काट दिया है, ऐसा पुरुष ही वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र नामक अघाति कर्मरूपी रजको दुर करके जिसने अपने पंखोपश्र पड़ी हुई घुलको झाड़ दिया है उस पक्षीकी तरह ऊपर लोकेके अग्रभागमें जाता है ॥ ८८ ॥

विशेषार्थ-पहले दो विशेषाणोसे यहाँ अग्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण किया है । उसका लक्षण इस प्रकार है- जिसके सब प्रसाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलसे शोभित है, ज्ञानी है, अभी हन उपशमक है और न क्षपक है, मात्र ध्यानमें लीन है उसे अप्रमत्त संयत कहते हैं ।

सातवें गुणस्थानसे आगे उपशम श्रेणि क्षपक श्रेणि शुरु होती है । क्षपक श्रेणि पर चढ़नेवाला ही मोक्ष जाता है । उसके क्षायिक सम्यक्त्व होता है और सामायिक या छेदोपस्थापना चाहित होता है । अतः तीसरे विशेषाणसे उस असप्रमत्त संयतको क्षपक श्रेणिपर चढ़नेके लिए उद्यत लेना चाहिए । चतुर्थ

विशेषणसे अपूर्वकरण आदि गुणस्थानर्वी लेना चाहिए क्योंकि अप्रमत्त संयत मुनि क्षपकश्रेणिपर चढ़ते हुए क्रमशः आठवे, नौवें और दसवें गुणस्थानमें जाता है और फिर दसवेंके अन्तमें सुक्ष्म लोभ कषायका क्षय करके क्षीणमोह कहा जाता है। अपूर्ण करण आदि तीन गुणस्थानोंमें पृथक्त्ववितर्कत्रीचार नामक पहला शुक्लध्यान होता है। बारहवें क्षीण मोह नामक गुणस्थानमें एकत्ववितर्कअवीचार नामक दुसरे शुक्लध्यानके द्वारा शेष तीन धातिकर्मोंका क्षय जीवनमुक्त सयोगकेव्रली हो जाता है।

चौदहवें गुणस्थानमें व्युपरत क्रियानिवृत्ति शुक्लध्यानके द्वारा शेष अघाति कर्मोंको नष्ट करके मुक्त हो जाता है। यहाँ अघाति कर्मोंको रज अर्थात् धूल शब्द से कहाक है क्योंकि वे जीवके स्वरूपको न घातते हुए ही जीवसे सम्बद्ध रहते हैं ॥ ८८ ॥

अथ क्षुत्परीषहविजयविधानार्थमाह-

षट्कर्मपरमावृतेरनशनाघाप्रकृशिमनोऽशन-

स्थालाभाच्चिरमप्यरं क्षुवनले भिक्षोर्दिघक्षत्यसून् ।

कारापज्जरनारक्त्रे परवान् योऽभूक्षि तीत्राः क्षुघः

का तस्यात्मवतोऽघ् मे क्षुदियमित्युज्जीव्यमोजी मुहुः ॥ ८९ ॥

षट्कर्म-षडावश्यकक्रियाः । दिधिक्षति-दग्धुं प्रवृत्त इत्यर्थः ।

यद्वैघाः-

आहारं पचति शिखी दोषानाहारवर्जितः पचति ।

दोषक्षये च धातून् पचति च घातूक्षये प्राणान् ॥ ( )

कारा-वन्दिकुटी । मनुष्यं प्रत्येषा । शेषी तैर्यग्नैरयिकी प्रति । परवान्-परायत्तः । अभुक्षि-अन्दभूवमहम् । आत्मवतः-आत्मायत्स्य । उज्जीव्यं-उहीप्यम् । ओजः- उत्साही धातुतेजी वा ॥ ८९ ॥

अथ तृष्णापरीषहतिरस्कारार्थमाह-

पत्रीवानियतासनशेवासितः स्नानाघपासी यथा-

लब्धाशी क्षपणाध्वपित्तकृद वष्वाणज्वरोष्णादिजाम् ।

तृष्णां निष्कुषिताम्बरीशदहनां देहेन्द्रियोन्माथिनो

सन्तोषोद्वकरीरपूरितवरध्यानाम्बूपानाज्जयेत् ॥ ९० ॥

उदवसितं-गृहम् । स्नानाघपासी-अभिषेकावगाहपरिषेकशिरीलाघुपचारपरिहारी । यथालब्धाशी-यथाप्रासाशनव्रतः । क्षपणं-उपवासः । अध्वा-मार्गचलनम् । पित्तकृदवष्वापाः-पित्तकराहारः कट्बम्ललवणादिः । उष्णः-ग्रीष्मः । आदिशब्दात् मरुदेशादिः । निष्कुषितारम्बरीषदहनां-निर्जितभ्राष्टाग्नम् । उद्वकरीरः-माघमासिकाभिनवघटः ॥ ९० ॥

अब पहले विशेषणको स्पष्ट करनेकी भावनासे क्षुधापरीषहको जीतनेका कथन करते हैं-

छह आवश्यक क्रियाओंमें परम आदर भाव रखनेवाले और अनशन आदि तपोंको करनेसे कृशताको प्राप्त मुनिको बहुत काल तक भी भोजनके न मिलनेसे भूख,की ज्वाला यदि प्राणोंको जलाने लगे तो भिक्षुको बारम्बार इस प्रकारके विचारोंसे अपने उत्साहको बढ़ाना चाहिए कि मैंने मनुष्य पर्यायमर्तें जेलखानेमें, पक्षीपर्यायमें पीजरेमें और नारक पर्यायमें पराधीन हापेकरजो तीव्र भूखकी वेदना सही है आज स्वाधीन अवस्थामें उसके सामने यह भूखकी वेदना कुछ भी नहीं है ॥ ८९ ॥

प्यास की परिपहका तिरस्कार कहतक हैं-

पक्षीके समान साधुजनोका न कोई नियत स्थान है यन निवास है, स्नान आदि भी वे नहीं करते । श्रावकोंसे जैसा भोजन प्राप्त है खा लेते हैं । उन्हें उपवाससे, मार्गमें चलनेसे, कडुआ, खट्टा , नमकीन आदि पित्तवर्धक आहारसे, ज्वरसे या गर्मी आदिसे उत्पन्न हुई, भाड़की आगको भी जीतनेवाली और शरीर तथा इन्द्रियोंको मथनेवाली प्यास सतावे तो सन्तोषरूपी माघ मासके नये घटमें भरे हुए उत्कृष्ट ध्यानरूपी जलकेपानसे जीतना चाहिए ॥ ९० ॥

अथ शीतपरीषहनिग्रहोपायमाह--

विष्वकचारिमरूच्चतुष्पथमितो धृत्येकवासाः पत-

त्यन्वड निशि काष्टदाहिनि हिमे भावास्तदुच्छेदिनः ।

अध्यायन्नधियन्नधोगतिहिमान्यतीर्दुरन्तातपो-

बर्हिस्तप्तनिजात्मगर्भगृहसंचारी मुनिर्मोदते ॥९१॥

अन्वड--अडमड प्रति । तदुच्छेदिनः--पूर्वानुभूतान शीतापनोदिनो गर्भगृहदीताडार-गन्ध-तैल-कुडमादीन । अधोगतिहिमान्यतीः--नरमहाशीतदुःखानि । दुरन्ताः--चिरकालभावित्वात् । बर्हिः--अग्निः ॥९१॥

अथोष्णपरीषहपरिसहनमाह--

अनियतविहतिर्वन तदात्वज्वलदनालान्तमितः प्रवृद्धशोषः ।

तपतपनकरालिताध्वखिन्नः स्मृतनपरकोष्णमहार्तिरू ष्णसाट स्यात् ॥९२॥

तदात्वज्वलदनलान्त--प्रवेशक्षण एव दीप्यमानोग्निःपर्यन्तेषु यस्य । शौषेः--सौम्यधातुक्षयो मुखशोषश्च । तपतपनः--गीष्मादित्यः । स्मृतेत्यादि--नरीकेष्वत्युष्णशीते यथा--

घ्षष्टसप्तमयोः शीतं शीतोष्णं पश्चमे स्मृतम् ।

चतुर्ष्वत्युष्णमाद्येषु नरकेष्विति भूगुणाः ॥ड [ वरांगच. ५।२० ]

इति चतसृषु भूषु पश्चम्याश्र त्रिषु चतभ्रंगेषूष्णनरकाणि ८२२५००० । शीतनरकाणि शेषाणि १७५००० । उष्णसाट--उष्णं सहते विच क्विपि प्राग्दीर्घः स्यात् ॥९२॥



अथ दंशमशकसहनमाह--

दंशादिदंशककृता बाधमधजिधसया ।

निःक्षोभं सहतो दंशमशकोर्मोक्षमा मुनेः ॥९३॥

दशादि--आदिशब्दज्ञान्मशक-मक्षिका-पिशुक-पुत्तिका-मत्कुण-कीट-पिपीलिका वृश्चिकादयो  
ग्राह्याः । च्काकेभ्यो रक्षयता सर्पिःऽ इत्यादिवत । दंशकप्राण्युपलक्षणात्वात् दंशमशकोभयग्रहणस्य  
॥९३॥

आगे शीतपरीषहको जीतनेका उपाय कहते हैं--

जहाँ चारो ओरसे हवा बहती है ऐसे चौराहेपर मुनि स्थित है, कवल सन्तोषरू पी वस्त्र धारण  
किये हुए है, रातका समय है, काष्ठको भी जला डालनेवाला हिम अंग-अंगपर गर रहा है । फिर भी  
शीतको दूर करनेवाले पूर्वानुभूत अग्नि, गर्म वस्त्र आदिका स्मरण भी नहीं करते । चिरकाल तक नरकमे  
भोगी हुई शीतकी वेदनाका स्मरण करते हैं और तपरू पी अग्निसे तप्त अपने आत्मारू पी गृहमे निवास  
करते हुए आनन्दका अनुभव करते हैं ॥९१॥

उष्णपरीषहके सहनका कथन करते हैं--

अनियतबिहारी और ग्रीष्मकालके सूर्यसे तपते हुए मार्गमे चलनेसे खिन्न साधु जैसे ही वनमे प्रवेश  
करते हैं वैसे ही वनमे आग लग जाती है, मुख सूख गया है । ऐसे साधु नरकोमे उष्णताकी महावेदनाका  
स्मरण करते हुए उष्णपरीषहको सहते हैं ॥९२॥

दंशमशकपरीषहके सहनका कथन करते हैं--

डॉस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, खटमल, चीटी, बिच्छू आदि जितने डँसनेवाले क्षुद्र किन्तु हैं उनके  
काटनेकी पीडाको अशुभ कर्मके उदयको नष्ट करनेकी इच्छासे निश्चल चित्त होकर सहनेवाले मुनिके  
दंशमशकपरीषह सहन होता है ॥९३॥

अथ निजतनाग्न्यपरीषहमृषि लक्षयति--

निर्ग्रन्थनिर्भूषणविश्वपूजयनारग्न्यरतो दोषयितु प्रवृत्ते ।

चित्तं निमित्ते प्रबलेपि यो न स्पृश्यते दोषैर्जितनाग्नरू क सः ॥९४॥

निर्ग्रन्थेत्यादि । उक्तं च--

घ्वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्तइणा असंवरो ।

णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्क जगदि पुज्ज ॥६ [ मूलाचार गा ३० ]

दोषयितु--विकृति नेतुम । निमित्ते--वामदृष्टिशापाकर्णनकामिनयालोकनादा ॥१४॥

अथारतिपरीषहजयोपायमाह--

लोकापवादभयसद्व्रतरक्षणाक्ष-

रोधक्षुदादिभिरसहमुदीर्यमाणाम ।

स्वात्मोन्मुखो धृतिविशेषहतेन्द्रियार्थ-

तृष्णः श्रृणात्वरमिमाश्रितसंयमश्री : ॥१५॥

लोकेत्यादि । यदबाहया अप्याहुः--

घसन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्राणाः

सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।

अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासनाप्याकुलो

युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनःप्राकृतः ॥ [ ]

अपि च--

घविपद्युच्चैः सथ्येय पदमनुविधेय च महतां,

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्ग्लिनमसुभडेप्यसुकरम ।

असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः,

सतां केनोद्यिष्ट विषममसिधाराव्रतमिदम ॥ [ ]

श्रृणातु--हिनस्तु ॥१५॥

---

नाग्न्यपरीषहको सहनेवाले साधुका स्वरु प कहते है--

वस्त्रादिसे रहित, भूषण आदिसे रहित तथा विश्वपूजय नाग्न्यस व्रतको स्वीकार करनेवाला जो साधु चित्तको दूषित करनेके लिए प्रबल निमित्त कामिनी आदिका अवलोकर आदि उपस्थित होनेपर भी दोषोसे लिप्त नही होता वह नाग्न्यपरीषहको जीतनेवाला है ॥१४॥

अरतिपरीषहजयको कहते है--

संयमरु पी सम्पदाको स्वीकार करनेवाले और विशिष्ट सन्तोषके द्वारा विषयोकी अभिलाषको दूर करनेवाले तथा आत्मस्वरु पकी और अभिमुख साधु लोकापवादका भंय, सद्व्रतकी रक्षा, इन्द्रयोका जय तथा भूख आदिकी वेदनासे उत्पन्न हुई दुःसह अरतिको दूर करे ॥१५॥

विशेषार्थ--संयम एक कठोर साधना है, उसमे पद-पदपर लोकापवादका भंय रहता है, व्रतोकी रक्षाका महान उत्तरदायित्व तो रहता ही है सबसे कठिन है इन्द्रियोको जीतना ।

---

१. दयादन्यो भ. कु. च. ।

अथ स्त्रीपरीषहसहनमुपदिशति--

रागाद्युपप्लुमति युवती विचित्रा-

श्चितं विकर्तुमनुकूल विकलभांवान ।

संतन्वती रहसि कूर्मवदिन्द्रियाणि

संवृत्य लघ्वपवदेत गुरु कित्युक्त्या ॥१६॥

रागाद्युपप्लुतमतिः--रागद्वेषयौवनदर्परु पमदविभमोन्मादमद्यपानावेशद्युपहतबुद्धिः । विकर्तु--  
दूषयितुम । अनुकूलाः--लिडहर्षणालिडनजधनप्रकाशंनभूविभ्रामदयः । विकूलाः--  
लिडकदर्थनापहसनताड-नावघटटनादयः । संतन्वन्ती--सातत्येन कुर्वन्ती । संवृत्य--अन्तः प्रविश्य ।  
अपवदेत--निराकुर्यात् । गुरु कित्युक्त्या--गुरु वचनप्राणिधनेन ॥१६॥

अथ चर्यापरीषहसहनमन्वाचष्टे--

बिभ्यदवाच्चिरमुपास्य गुरु न्निरु ढ

ब्रम्हव्रतश्रुतशमस्तदनुज्ञयैकः ।

क्षोणीमटन गुणरसादपि कण्टकादि-

कष्टे सहत्यनधियन शिबिकादि चर्याम ॥१७॥

निरु ढाः--प्रकर्ष प्राप्ताः । एकः--असहायः । अटन--ग्रामे एकरात्र नगरे पचचरात्र  
प्रकर्षेणावस्थांतव्यमित्यास्थाय विहरन । गुणरसान--संवेगस्मादिगुणान । रागान ( ? ) । कण्टकादि--  
आदिशब्देन परु षशर्करा-मृत्कण्टकादिपरिग्रहः । शिबिकादि--पूर्वानुभूतयानवाहनादिगमनम ॥१७॥

---

ऊपरसे भूख-प्यासकी वेदना आदिसे साधुको संयमसे विराग पैदा होता है । किन्तु धीर-वीर संयमी साधु  
उसे रोकता है ।

यहाँ कहा जा सकता है कि इस परीषहको अलगसे क्यों गिनाया, क्योंकि भूख-प्यास आदि सभी  
परीषह अरतिकी कारण है । इसका समाधान यह है कि कभी-कभी भूख-प्यासका कष्ट न होनेपर भी  
अशुभ कर्मके उदयसे संयमसे अरती होती है उसीको रोकनेके लिए इसका पृथक कथन किया है ॥१५॥

आगे स्त्रीपरीषह सहनेका उपदेश देते हैं--

राग-द्वेष, यौवनका मद, रू पका धमण्ड, विलास, उन्माद या मद्यपानके प्रभावसे जिसकी बुद्धि  
नष्ट हो गयी है, ऐसी युवती स्त्री यदि एकान्तमे साधुके चित्तको विकारयुक्त करनेके लिए नाना प्रकारके

अनुकूल और प्रतिकूल भावोको बराबर करती रहे अर्थात् कभी अलिगन करे, अपने अंगोका प्रदर्शन करे, हँसे, साधुके शरीरको पीडा दे, तो साधुको कछुएकी तरह अपनी इन्द्रियोको संकुचित करके गुरु के द्वारा बतलायी गयी युक्तिसे शीघ्र ही उसका निराकरण करना चाहिए ॥१६॥

अब चर्या पीरषहको सहनेका कथंन करते है--

संसारसे भयभीत साधु चिरकाल तक गुरु ओकी उपासना करके ब्रम्हचर्य व्रत, शास्त्र ज्ञान और समताभवमे दृढ ठेकर दर्शन विशुद्धी आदि गुणोके अनुरागसे, गुरु की आज्ञासे, पृथ्वीपर विहार करता है और पैरमे कौंटा चुभने आदिका कष्ट होनेपर भी गृहस्थाश्रममे अनुभूत सवारी आदिका स्मरण भी नहीं करते हुए चर्यापरीषहको सहता है ॥१७॥

१. रसाद भ. कु. च. ।

अथ निषद्यापरीषहं लक्षयति--

भीष्मश्मशानादिशिलातलादौ

विद्यादिनाजन्यगदाद्युदीर्णम ।

शक्तोपि भडक्तु स्थिरमडिपीडां

त्यक्तु निषद्यासहनः समास्ते ॥१८॥

स्मशानादि--प्रेतवरारण्य-शून्यायतन-गिरिगहादि । विद्यादिना--विद्यामन्त्रौषधादिना । अजन्यं--  
उपसर्गः । समास्ते--समाधिना तिष्ठति न चलति ॥१८॥

अथ शय्यापरीषहक्षमामुपदिशति--

शय्यापरीषहसहोस्मृतहंसतुल-

प्रायोविषादमचलन्नियमान्मुहूर्तम ।

आवश्यकदिविधिखेदनुदे गुहादौ

त्र्यस्त्रोपलादिशबले शववच्छेद्यीत ॥१९॥

हंसतुलप्रायः--प्रायशब्देन दुकूलास्तरणादि । अविषादं--व्याधादिसकुलोय प्रदेशेचिरादतो निर्गमन  
श्रेयः, कदा तु रात्रिर्विरमतीति विषदाभावेन । नियमात्--एकपार्श्वदण्डायतादिशयनप्रतिज्ञातो ।  
त्र्यस्त्रोपलादिशबले--त्रिकोणपाषणशर्कराकर्पराद्याकीर्ण । शववत्--परिवर्तनरहितत्वात् मृतकेन तुल्यम्  
॥१९॥

अथाक्रेशपरीषहजिष्णु व्याचष्टे--

नष्ट्यापरीषहका स्वरूप कहते हैं--

भयंकर श्मशान, वन, शून्यधर और पहाडकी गुफा आदिमे पत्थरकी शिली आदिपर बैठकर ध्यान करते समय उत्पन्न हुई व्याधि या उपसर्ग आदिको विद्या मन्त्र आदिकेद्वारा दूर करनेकी शक्ति होते हुए भी प्राणियोको पीडासे बचानेके लिए स्थिर ही बैठा रहता है, उस मुनिको नष्ट्यापरीषहका सहन करनेवाला जानना ॥१८॥

शय्यापरीषहको सहन करनेका उपदेश देते हैं--

शय्यापरीषहको सहन करनेवाले साधुको छह आवश्यक कर्म और स्वाध्याय आदिके करनेसे उत्पन्न हुए थकानको दूर करनेकेलिए, तिकोने पाषाण, कंकर-पत्थरसे व्याप्त गुफा वगैरहमे बिना किसी प्रकारके विषादके एक मूर्त एक मुरदेकी तरह सोना चाहिए। तथा एक करवटसे दण्डकी तरह सीधे सोने आदिके नियमोसे विचलित नही होना चाहिए। और गृहस्थ अवस्थामे उपयुक्त कोमल रू ईके गद्ये आदिका स्मरण नही करना चाहिए ॥१९॥

विशेषार्थ--साधुको रात्रिमे दिन-भर संयमकी आराधनासे हुई थकान दूर करनेकेलिए भूमिपर एक करवटसे या सीधे पैर फैलाकर एक मुहूर्त तक निद्रा लेनेका विधान है। न तो वह करवट ले सकता है और न धुटने पेटमे देकर सुकडकर सो सकता है। सोते हुए न तो वह गृहस्थावस्थामे उपयुक्त कोमल शय्य आदिका स्मरण करता है और न यही सोचता है कि यह रात कब बीतेगी, कैसे यहाँसे छुटकारा होगा आदि। इस प्रकार शस्त्रविहित शयनकेकष्टको सहन करना शय्यपरीषहजय है ॥१९॥

आग्रोशपरीषहको जीतनेवालेका स्वरूप कहते हैं--

मिथ्यादृशश्चण्डदुरु वित्काण्डैः प्रविध्यतोरु षि म.ध निरोदधुम।

क्षमोपि यः क्षाम्यति पापपाक ध्यायन स्वमाब्रेशसहिष्णुरेषः ॥१००॥

अरु षि--मर्माणि। मृधं--शीघ्रम ॥१००॥

अथ वधक्षमणमाह--

नृशसेरं क्वचित्स्वैर कुतश्चिन्मारयत्वपि।

शुध्दात्मद्रव्यसंवित्तित्तः स्याद्वधमर्षणः ॥१०१॥

नृशंसे--क्रूरकर्मकारिणि। अरं--शीघ्रम। स्वैर--स्वच्छन्दम। द्रव्यं--अविनाशिरु पम। वित्तः--पतीतः। वित्तं वा धनम ॥१०१॥

अथ याचनापीरषहसहनाय साधुमुत्साहयति--

भृशं कृशः क्षुन्मुखसन्नवीर्यः

शम्पेव दातन प्रति भासितात्मा।

ग्रास पुटीकृत्य करावायाच्चा

व्रतोपि गहन सह याचनार्तिम ॥१०२॥

क्षुन्मुखसन्नवीर्यः--क्षुदध्वपरिश्रमतपारोगादिग्लपितनैसर्गिकशक्तिः । शम्पेव--  
दुरु पलक्ष्यमूर्तित्वात् । भंसितात्मा--दर्शितस्वरूपः । सकृन्मूर्तिसन्दर्शनव्रतकाल इत्यर्थः । अयाच्चाव्रतः-  
-प्राणात्ययेप्याहारवसतिभोजाना दीनाभिधानमुखवैवर्ण्यागसंज्ञादिभिरयाचना । स--क्षमस्व त्वम ॥१०२॥

अत्यन्त अनिष्ट दुर्वचनरूपी बाणोके द्वारा मर्मको छेदनेवाले विरोधी मिथ्यादृष्टियोंको शीघ्र  
रोकनेमें समर्थ होते हुए भी जो अपने पापकर्मके उदयको विचारकर उन्हें क्षमा कर देता है वह मुनि  
आक्रोशपरीषहको सहनेवाला है ॥१००॥

आगे वधपरीषह सहनको कहते हैं--

किसी कारणसे कोई क्रूर कर्म करनेवाला चोर आदि स्वच्छन्दतापूर्वक शीघ्र मारता भी हो तो  
शुद्ध आत्मद्रव्यके परिज्ञानरूपी धनसे सम्पन्न साधुके वधपरीषह सहन है अर्थात् उस समय वह यह  
विचार करता है कि यह मारनेवाला मेरे इस दुःखदायी विनाशी शरीरका ही धात करता है मेरे ज्ञानादिक  
गुणोका तो घात नहीं करता । यह विचार करते हुए वह वधको सहता है ॥१०१॥

आगे साधुको याचनापरीषह सहनेकेलिए उत्साहित करते हैं--

घ्राण जानेपर भी है आहार, वसति, औषध आदि दीन वचनोकेद्वारा या मुखकी म्लानताकेद्वारा या  
किसी प्रकारके संकेत द्वारा नहीं मॉगूंगाड इस प्रकारके आयाचनाव्रती हे साधु ! शरीरसे अत्यन्त कृश  
और भूख-प्यास, मार्गकी थकान, तप आदिके द्वार शक्तिहीन हो जानेपर भी आहारके समय बिजलीकी  
चमककी तरह दाताओको केवल अपना रूप दिखाकर गृहस्थके द्वारा दिये गये ग्रासको दोनो हाथोको  
पुटाकार करके ग्रहण करते हुए याचनापरीषहको सहन कर ॥१०२॥

विशेषार्थ--भूख-प्यास और तपसे शरीरके सूख जानेपर प्राण भले ही चले जाये किन्तु दीन  
वचनोसे, मुखकी म्लानतासे या हाथ आदिके संकेतसे आहार, औषधि आदि जो नहीं मॉगता और भिक्षाके  
समय भी बिजलीकी चमककी तरह गृहस्थोके धके सामनेसे निकल जाता है वह साधु याचनापरीषहका  
जीतनेवाला कहा जाता है । किन्तु श्वेताम्बर

अथालाभपरीषहं दश्रयति--

निसडो बहुदेशचार्यनिलवन्मौनी विकायप्रती-

करोद्येदमिदं श्व इत्यविमृशन ग्रामेस्तभिक्षः परे ।

बहोकः स्वपि बहं मम परं लाभं दलाभस्तपः

स्यादित्यात्तद्धृतिः पुरोः स्मरयति स्मार्तानलाभं सहन ॥१०३॥

अविमृशन--असंकल्पनयन । परे--तद्यिनभिक्षाविषयीकृतादन्यत्र । बहौकस्सु--बहुषु गृहेषु ।  
बहहं--बहुन्यपि दिनानि । पुरोः--आदिनाथस्य कर्मण्यत्र षष्ठी । स्मार्तान--स्मृतिः  
परमागमार्थोद्धारशास्त्रम, ता विदन्दि अधीयते वा ये तान ॥१०३॥

अथ रोगसहनमाह--

तपोमहिम्ना सहसा चिकित्सितु

शक्तोपि रोगानतिदुस्सहानपि ।

दुरन्तपापान्तविधित्सया सुधीः

स्वस्थोधिकुर्वीत सनत्कुमारवत ॥१०४॥

तपोमहिम्ना--जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकपोविशेषर्दिलब्ध्या । अधिकुर्वीत--प्रसहेत ॥१०४॥

परम्परामे याचनाका अर्थ है मॉगना । क्योंकि साधुको वस्त्र, पात्र, अन्न और आश्रय, सब दूसरोसे ही प्राप्त करना होता है अतः साधुको अवश्य ही याचना करनी चाहिए । यही याचनापरीषहजय है अर्थात् मॉगनेकी परीषहको सहना । और मॉगनेपर भी न मिले तो असन्तुष्ट नहीं होना अलाभपरीषहजय है । ( तत्त्वार्थ टी. सिध्द ९-९ ) ॥१०२॥

अलाभपीरषहको बतलाते है--

वायुकी तरह निःसंग और मोनपूर्वक बहुत-से देशोमे विचरा करनेवाला साधु अपने शरीरकी परवाह नहीं करता, इस धर आज भिक्षा लूंगा और छ्इस धर कल प्रातः भिक्षा लूंगा ऐसा संकल्प नहीं करता । एक ग्राममे भिक्षा न मिलनेपर दूसरे ग्राम जानेके लिए उत्सुक नहीं होता । खहुत दिनो तक बहुतसे घरोमे आहार मिलनेकी अपेक्षा न मिलना मेरे लिए उत्कृष्ट तप हैड ऐसा विचारकर सन्तोष धारण करता है । अलाभपरीषहको सहन करनेवाला वह साधु परमागमसे उदधृत शास्त्रोको पढनेवालोको भंगवान आदिनाथका स्मरण कराता है अर्थात् जैसे भगवान आदिनाथने छह मास तक अलाभपरीषहको सहन किया था उसी तरह उक्त साधु भी सहन करता है ॥१०३॥

रोगपरीषहको कहते है--

शरीर और आत्माको भिन्न माननेवला साधु एक साथ हुए अत्यन्त दुःसह रोगोका तपकी महिमासे प्राप्त ऋद्धियोके द्वारा तत्काल इलाज करनेमे समर्थ होनेपर भी सनत्कुमार चक्रवर्तीकी तरह निराकुल होकर दुःखदायी पापकर्मोका विनाश करनेकी इच्छासे सहता है ॥१०४॥

विशेषार्थ--सनत्कुमार चक्रवर्ती कामदेव थे । उन्हे अपने रू पका बडा मद था । दो देवताओके द्वारा प्रबुध्द होनेपर उन्होने जिनदीक्षा ले ली । किन्तु उनके शरीरमे कुष्ठ रोग हो गया । देवताओने पुन-परीक्षा लेनेके लए वैद्यका रू प धारण किया । किन्तु सनत्कुमार मूनिराजने उनी उपेक्षा की और कुष्ठरोगको धीरतापूर्वक सहा । यही रोगपरीषह सहन है ॥१०४॥

अथ तृणस्पर्शसहनमाह--

तृणादिषु स्पर्शखरेषु शय्या भजन्निषद्यामथं खेदशान्त्यै ।

संक्लिश्यते यो न तदतिजातखर्जुस्तृणस्पर्शतितिक्षुरेषः ॥१०५॥

तृणादिषु--शुष्कतृणपत्रभूमिकटफलशिलातलादिषु । खेदशान्त्यै--व्याधि-मार्गगमन-  
शीतोष्णजनितश्रमापनोदार्थम् । संक्लिश्यते--दुःखं चिन्तयन्ति (-ति) ॥१०५॥

अथ मलपीरषहसहनमाह--

रोमास्पदस्वेदमलोत्थसिध्मप्रायात्यवज्ञातवपुः कृपावान् ।  
केशापनेतान्यमलाग्रहीता नैर्मल्यकामः क्षमते मलोर्मिम ॥१०६॥

सिध्मप्रायाः--दुर्भित्तक-कच्छु-दद्रु-प्रमुखाः । कृपावान्--बादरनिगोदप्रतिष्ठितजीवदर्यामुध्दर्तन  
जलजन्त्वादिरक्षार्थं च स्नानं त्यजन्निति भावः । केशापनेता--एतेन केशालुचनेन तत्संस्काराकरणं च  
महाखेदः संजायते इति तत्सहनमपि मलधारणेन्तर्भवतीत्युक्तं स्यात् । अन्यमलाग्रहीता--  
परमलोपचयत्यागीत्यर्थः । नैर्मल्यकामः--कर्ममलपडपनोदार्थी ॥१०६॥

अथ सत्कारपुरस्कारपरीषहजयमाह--

तुष्येन्न यः स्वस्य परैः प्रशंसया श्रेष्ठेषु चाग्रे करणेन कर्मसु ।  
आमन्त्रणेनाथ विमानितो न वा रू ष्येत्स सत्कारपुरस्क्रियोर्मिजित ॥१०७॥

परैः--उत्कृष्टपुरुषैः । श्रेष्ठेषु--नन्दीश्वरादिपर्वयात्रात्मककियादिषु ॥१०७॥

---

तृणस्पर्शपरीषहके सहनको कहते हैं--

सूखे तृण, पत्ते, भूमि, चटाई, लकडीका तख्ता, पत्थरकी शिला आदि ऐसे स्थानोपर जिनका  
स्पर्श कठोर या तीक्ष्ण हा, रोग या मार्गमे चलने आदिसे उत्पन्न हुई थकानको दूर करनेकेलिए सोनेवाला  
या बैठनेवाला जो साधु शुष्क तृण आदिसे होनेवाली पीडाके कारण खाज उत्पन्न होनेपर भी दुःख नहीं  
मानता, वह साधु तृणस्पर्शपरीषहको सहनेवाला है ॥१०५॥

मलपरीषह सहनको कहते हैं--

रोमोसे निकलनेवाले पसीनेके मैलसे उत्पन्न हुए दा-खाज आदिकी पीडा होनेपर जो शरीरकी  
परवाह नहीं करता, जिसने बादर निगोद प्रतिष्ठित जीवोपर दया करनेके भावसे उध्दर्तनका और  
जलकायिक जीवोकी रक्षाके लिए स्नानका त्याग किया है, केशोका लोच करता है, अन्य मलको ग्रहण  
नहीं करता, किन्तु कर्मरुपी मलको ही दूर करना चाहता है वह साधु मलपीरषहको सहता है ॥१०६॥

विशेषार्थ--केशोका लोच करनेमे और उनका संस्कार न करनेपर महान खेद होता है अतः उसका  
सहना भी मलपरीषहमे आता है ॥१०६॥

सत्कार-पुरस्कारपरीषहजयको कहते हैं--



जो बड़े पुरु षोकेद्वारा अपनी प्रशंसा किये जानेसे और उत्तम कार्योमे आगे किये जानसे अथवा आमन्त्रणसे प्रसन्न नही होता और अवज्ञाकरनेसे रू ष्ट नही होता वह सत्कार पुरस्कार परीषहका जीतनेवाला होता है ॥१०७॥

विशेषार्थ--चिरकालसे ब्रम्हचर्यका पालन करनेवाला, महातपस्वी, स्वसमय और परसमयका इ ताता, हितोपदेश और कथावार्तामे कुशल तथा अनेक बार अन्य वादियोको जीतनेवाला भी जो साधु अपने मनमे ऐसा नही विचारता कि मुक्ते कोई प्रमाण नही करता, कोई

अथ प्रज्ञापरीषहमाह--

विद्याःसमस्ता यदुपज्ञमस्ताः प्रवदिनो भूपसभेषु येन ।

प्रज्ञोर्मिजित सोस्तु मदेन विप्रो गरु त्मता यध्ददखाद्यमानः ॥१०८॥

यदुपज्ञ--यस्य उपज्ञा प्रथमोपदेशः । भूपसभेषु--बहुषु राजसभासु । विप्र इत्यादि--गरु डेन स्वमातृवाक्यानिन्नषादखदनावसरे तत्संबलितो मुखन्तर्गतो ब्राम्हणो यथा । तथा च माघकाव्यम--

घसार्ध कथंचिदचितैः पिचुमन्दपत्रैरास्यान्तरालगतामाम्रदलं मदीयः ।

दासेरकः सपदि संवलित निषादैर्विप्र पुरा पतगराडव निर्जगाम ॥३॥ ॥१०८॥

अथाज्ञानपरीषहजयमाह--

पूर्वेसिधन येन किलाशु तन्मे चिरं तपोभ्यस्तवतोपि बोधः ।

नाद्यापि बोभोत्यपि तूच्यकेहं गौरित्यतोज्ञानरु जोपसर्पेत ॥१०९॥

असिधन--सिध्दाः । बोभोति--भृशं भवति । उच्यके-कुत्सितमुच्यते कुल्प्ये (?) अहं । गौः बलीवर्दो लौकैरिति शेषः ॥१०९॥

---

मेरी भक्ति नही करता, कोई मुझे आदरपूर्वक आसन नही देता, इससे तो विधर्मी ही उत्तम है जो अपने मूर्ख भी साधर्मीको सर्वज्ञकेसमान मानकर अपने धर्मकी प्रभांवना करते है । प्राचीन कालमे व्यन्तर आदि देवता कठोर तप करनेवालोकी सर्वप्रथम पूजा किया करते थे, यदि यह श्रुति मिथ्या नही है तो हमारे जैसे तपस्वियोका भी ये साधर्मी क्यो अनादर करते है । जिनका चित्त इस प्रकारके विचारसे रहित होता है तथा जो मान और अपमानमे समभांव रखते है वे साधु सत्कार-पुरस्कारपरीषहकेजेता होता है ॥१०७॥

आगे प्रज्ञापरीषहको कहते है--

जो अंग, पूर्व और प्रकीर्णकरु प समस्त विद्याओका प्रथम उपदेष्टा है और जिसने अनेक राजसभाओमे प्रवादियोको पराजित किया है फिर भी जो गरु डकेद्वारा न खाये जानेवाले ब्राम्हणकी तरह मदसे लिप्त नही होता वह साधु पज्ञापरीषहको जीतनेवाला है ॥१०८॥

विशेषार्थ--हिन्दू पुराणोमे कथा है कि गरू डने अपनी माताके कहनेसे निषादोको खाना शुरू किया तो साथमे कोई ब्राम्हण भी मुखमे चला गया, किन्तु गरू डने उसे नहीं खाया । इसी तरह मद सबको होता है किन्तु प्रज्ञापरीषहकेजेता साधु अपने ज्ञानका मद नहीं होता ॥१०८॥

अज्ञानपरीषहकेजयको कहते है--

जिस तपके प्रभावसे पूर्वकालमे अनेक तपस्वी शीघ्र ही सिद्धिको प्राप्त हुए सुने जाते है उसी तपका चिरकालसे अभ्यास करते हुए भी मुझे आज तक भी ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ । उल्टे मुझे लोग बैल कहते हे । इस प्रकारकेअज्ञानपरीषहसे साधुको दूर रहना चाहिए ॥१०९॥

विशेषार्थ--सारांश यह है कि जो साधु घ्यह मूर्ख है, पशुके समान कुछ भी नहीं जानताड इत्यादी तिरुकिंपूर्ण वचनोकेसहता है फिर भी निरन्तर अध्ययनमे लीन रता है, मन, वचन, कायसे अशुभ चेष्टाएँ नहीं करता, महोपावास आदि करनेपर भी मेरे ज्ञानमे कोई अतिशय उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसा मानमे नहीं विचारता । उस मुनिकेअज्ञानपरीषहजय होता है ॥१०९॥

आदर्शनसहमनमाह--

मोपवासादिजुषां मृषोद्याः, प्राक प्रातिहार्यातिशया न हीक्षे ।

किचित्तथचार्यपि तदवृथषा, निष्ठेत्यसन सददृशैनासट ॥११०॥

मृषोद्याः--मिथ्या कथ्यते । प्राक--पूर्वस्मिन काले । ईक्षे--पश्यामहम । असन--अभंवन । सददृक-  
दर्शनविशुद्धियुक्तः । दर्शनासट--अदर्शनपरीषहस्य सति स्यादित्यर्थः ॥११०॥

अदर्शनपरीषहकेसहनको कहते है--

पूर्वकालमे पक्ष-मास आदिका उपवास करनेवालोको प्रातिहार्य आदि अतिशय होतते थे यह कथन मिथ्या है, क्योंकि महोपवास आदि करनेपर भी मुझे तो कुछ होता नहीं दिखाई देता । अतः यह तपस्या आदि करना व्यर्थ है । इस प्रकारकी भावना जिसे नहीं होती वह सम्यग्दृष्टि अदर्शनपरीषहका सहन करनेवाला है ॥११०॥

विशेषार्थ--आशय यह है जो कि जो साधु ऐसा विचार नहीं करता कि मैं दुष्कर तप करता हूँ, वैराग्य भावनामे तत्पर रहता हूँ, सकल तत्वोको जानता हूँ, चिरकालसे ब्रती हूँ फिर भी मुझे आज तक किसी ज्ञानातिशयकी प्राप्ति नहीं हुई । मोपवास आदि करनेवालोके प्रातिहार्य विशेष प्रकट हुए ऐसा कहना कोरी बकवाद है । यह दीक्षा व्यर्थ है, ब्रतोका पालन निष्फल है, उस साधुके सम्यग्दर्शन विशुद्धिके होनेसे अदर्शनपरीषहका सहन होता है ।

यहाँ परीषहोके सम्बन्धमे विशेष प्रकाश डाला जाता है--ये सभी परीषह कर्मके उदयमे होती है । प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरणके उदयमे होती है । अदर्शन परीषह दर्शन मोहके उदयमे और अलाभ परीषह लाभान्तरायके उदयमे होती है । मान कषायके उदयमे नाग्न्य, निषद्या, आक्रेश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह होती है । अरति मोहनीयके उदयमे अरतिपरीषह और वेद मोहनीयके उदयमे

स्त्री परीषह होती है। वेदनीयके उदयमे क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल परीषह होती है। एक जीवके एक समयमे एकसे लेकर उन्नीस परीषह तक होती है क्योंकि शीत और उष्णमे-से एक समयमे एक ही परीषह होती है तथा शय्या, चर्या और निषद्यामे-से एक ही परीषह होती है। प्रज्ञा और अज्ञान परीषह एक साथ हो सकती है क्योंकि श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञाका प्रकर्ष होनेपर अवधिज्ञान आदिका अभाव होनेसे अज्ञान परीषह हो सती है। अतः इन दोनोके एक साथ होनेमे विरोध नहीं है।

मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन सात गुणस्थानोमे सब परीषह होती है। अपूर्वकरणमे अदर्शन परीषहके बिना इक्कीस परीषह होती है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके सवेद भांगमे अरति परीषहके बिना बीस परीषह होती है। और अनिवृत्तिकरण अवेद भांगमे स्त्री परीषह न होनेसे उन्नीस होती है। उसी गुणस्थानमे मानकषायके उदयका क्षय होनेपर नाग्न्य, निषा, आक्रेश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह नहीं होती। उनेक न होनेसे अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय इन चार गुणस्थानोमे चौदह परीषह होती है। क्षीण कषयमे प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ परीषह नष्ट हो जाती है। सयोगकेवलीके धातिकर्म नष्ट हो जानेसे अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाते हैं अतः अन्तराय कर्मका अभाव होनेसे निरत्नर शुभं पुद्गलोका संचय होता रहता है। इसलिए वेदनीयकर्म विद्यमान होते हुए भी धतिकर्मोकी सायताका बल नष्ट हो जानेसे अपना कार्य करनेमे

अथैव द्वाविशतिक्षुदादिपरीषहजयं प्रकाश्य तदनुषडप्राप्तमुपसंसहनमुदाहरणपुरस्सरं व्याहरन्नाह-

स्वध्यानाच्छिवपाण्डुपुत्रसुकुमालस्वामिविष्णुचर-

प्रष्टाः सोढविचिन्तृतिर्यगमरोत्थानोपसर्गाः क्रमात् ।

संसार पुरु षोत्तमाः समरंस्ततत्पदं प्रेप्सवो

लीनाः स्वात्मनि येन तेन जनित धुन्वन्त्वजन्यं बुधाः ॥१११॥

शिवः--शिवभूतिर्नाम मुनिः । पृष्ठाः । पृष्ठग्रहणात् चेतनकृतोपसर्गा एणिकापुत्रादयः, मनुष्यकृतोपसर्गा गुरु दत्तगजगुमारादयः, तिर्थकृतोपसर्गाः सिध्दार्थसुकौशलादयः । देवकृतोपसर्गाः श्रीदत्तसुवर्णभद्रादयो यथागममधिगन्तव्याः । उतथन--कारणम् । समहरनइसंहरन्ति स्म ॥१११॥

असमर्थ होता है। जैसे मन्त्र या औषधिके बलसे जिस विषकी मरण शक्ति नष्ट हो जाती है उसे खनेपर भी मरण नहीं होता। थवा जैसे जिस वृक्षकी जड काट दी जाती है वह फूलात-फलता नहीं है। या जैसे, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्म साम्परायमे मैथुन और परिग्रह संज्ञा कार्यकारी नहीं है या जैसे केवलीमे एकाग्रचिन्तानिरोधके अभावमे भी कर्मोकी निर्जरा होनेसे उपचारसे ध्यान माना जाता है, वैसे ही भूख, रोग, वध आदि वेदनाका सध्दावरु प परीषहके अभावमे वेदनीयकर्मके उदयमे आगत द्रव्यको सहनेरु प

पहरीषहका सध्दाव होनेसे जिनभंगवानमे ग्याहर परषह उपचारसे मानी गयी है । किन्तु घाति कर्मोंके बलकी सहायतासे रहित वेदनीय कर्म फलदाता नहीं होता । इसलिए जिनभगवानमे ग्याहर पीरषह नहीं है । ऐसे होनेसे किसी अपेक्षा केवलीकेपीरषह होती है और किसी अपेक्षा नहीं होती इस तरह स्याद्वाद घटित होता है । शतकके प्रदेशबन्धके वेदनीयके भंगविशेषके कारणका कथंन है । अतः वेदनीय धतिकर्मोंके उदयके बिना फलदायक नहीं होता, यह सिद्ध हुआ । मार्गणाओमे नरकगति और तिर्यचगतिमे सब पीरषह होती है । मनुष्यगतिमे गुणसानोकी तरह जानना । देवगतिमे घातिकर्मोंक उदयसे होनेवाली परीशहोके साथ वेदनीयसे उत्पन्न क्षुधा, प्यास और वध परीषहके साथ चौदह पीरषह होती है । इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणामे सब पीरषह होतीं । योगमार्गणामे वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्रमे देवगतिके समान जानना । तिर्यच और मनुष्योकी अपेक्षा बाईस तथा शेष योगो और वेदादि मार्गणाओमे अपने-अपने गुणस्थानोकेअनुसार जानना ॥११०॥

इस प्रकार बाईस पीरषहोको जीतनेका कथंन करके उनके सम्बन्धसे उदाहरणपूर्वक उपसर्ग सहनेका कथंन करते हैं--

आत्मस्वरूपका ध्यान करनेसे शिवभूति मुनि, पाण्डव, सुकुमाल स्वामी और विद्यच्चर प्रमुख पुरुषश्रेष्ठोने कमशः अचेतनकृत, मनुष्यकृत, तिर्यचकृत और देवकृत उपसर्गोंका सहन करके संसारका नाश किया । इसलिए उस पदको प्राप्त करनेके इच्छुक विद्वान् स्वात्मामे जीन होकर अचेतन आदिमे-से किसीके भी द्वारा होनेवाले उपसर्गको सहन करे ॥१११॥

विशेषार्थ--किसी भी बाह्य निमित्तसे अचानक आ जानेवाली विपत्तिको उपसर्ग कहते हैं । वह चार प्रकारका होता है--अचेतनकृत, मनुष्यकृत, तिर्यचकृत और देवकृत । इन उपसर्गोंको सहन करनेवालोमे प्रमुख हुए हैं शिवभूति आदि । शिवभूति मुनिध्यानमे

१. घजम्हा वेदणीयस्स सुखदुःखोदय सणाणावरणादि उदयादि उपकारणकारण तम्हा वेदणीय सेव पागडो सुहदुक्खेदय दिस्सदे"इति

अथ प्रकृतमुपसंहरन बाहयाभ्यन्तरपश्चरणाय शिवपुरपान्थुद्यमयितुमाह--

इति भवपथोन्माथस्थामप्रथिन्मि पृथूद्यमः,

शिवपुरपथे पौरस्त्यानुप्रयाणचणश्चरन ।

मुनिरनशानाद्यस्त्रैरु ग्रैः क्षितेन्द्रियतस्कर-

प्रसृतिरमृत विन्दत्वन्तस्तपःशिबिका श्रितः ॥११२॥

भवेत्यादि--मियात्वादित्रयोच्छेदार्थाक्तिविस्तारे । पौरस्त्यानुप्रयाणचणः--पूर्वाचार्यानुगमनपतीतः । अमृतः--मोक्षममृतपानसाहचर्यात् स्वर्ग वा । इति भद्रम ।

इत्याशाधरदृढ्याया धर्मांमृतपज्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसंज्ञाया

षष्ठोऽध्यायः ।

मग्न थे । बडे जोरकी ऑधी आयी । उससे पासमे लगा तृणपूलोका डा भारी ढेरमुनिपर आ पडा । शिवभूति आत्मध्यानसे च्युत नही हुए और मुक्त हुए । पण्डव जब ध्यानमे मग्न थे तो उनेक वैरी कोरवपक्षके मनुष्योने लोहेकी सॉकले तपाकर आभूषणोकी तरह पहना दी । पाण्डव भी मुक्त हुए । सुकुमाल सवामीको गीदडोने कई दिनो तक खाया किन्तु वे ध्यानसे विचलित नही हुए । विद्युच्चर चोर था । जम्बूसवामीके त्यागसे प्रभांविता होकर अपने पाँच सौ साथियोके साथ मुनि हो गया था । जब वे सब मथुराके बाहर एक उद्यानमे ध्यानमब्न थे तो देवोने महान उपसर्ग किया । सबाक प्राणान्त हो गया किन्तु कोई ध्यानसे विचलित नही हुआ । इसी प्रकारके उपसर्गसहिष्णु अन्य भी हुए है । जैसे अचेतनकृत उपसर्ग सहनेवाले एणिका पुत्र वगैरह, मनुष्यकृत उपसर्ग सहनेवाले गुरु दत्त, गजकुमार वगैरह, तिर्यचकृत उपसर्ग सहनेवाले सिध्दार्थ, सुकोशल वगैरह, और देवकृत उपसर्ग सहनेवाले श्रीदत्त, सुवर्णभद्र वगैरह । इनकी कथाएँ आगमसे जाननी चाहिए ॥१११॥

परीषह और उपसर्गसहनका उपसंहार करते हुए मुमुक्षुको बाहय और आभ्यन्तर तपको पालनेके लिए उत्साहित करते है--

इन प्रकार मोक्षनगरके मार्गमे विहार करते हुए पूर्व आचार्योका अनुगमन करनेसे अनुभवी और संसारके मार्ग मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको नष्ट करनेके लिए शक्तिके विस्तरमे महान उत्साही मुनि, अनशन अवमौदर्य आदि तीक्ष्ण शस्त्रोके द्वारा इन्द्रियरू पी चोरो प्रसारको रोककर और अभ्यन्तर तपरू पी पालकीपर चढकर अमृतको--मोक्ष या स्वर्गको प्राप्त करे ॥११२॥

इस प्रकार प. आशाधर विरचित अनगार धर्माभूतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका तथा

ज्ञानदीपिका पंजिकाकी अनुसारिणी भाषा टीकामे मार्गमहोद्योग वर्णन

नामक षष्ट अध्याय समाप्त हुआ ।

सप्तम अध्याय

अर्थातः सम्यक तप आराधनामुपदेष्टुकामो मुक्तिप्रधानसाधनवैतृष्यसिध्दयर्थ नित्य तपोर्ज्येदिति शिक्षयन्नाह--

ज्ञाततत्त्वोपि वैतृष्यादृते नाप्नोति तत्पदम ।

ततस्तत्सिध्दये घीरस्तपः तप्येत नित्यशः ॥१॥

वैतृष्यात् ॥१॥

अथ तपसो निर्वचनमुखेन लक्षणमाह--

तपो मनोक्षकायाणां तपनात् सन्निरोधनात् ।  
निरु च्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम् ॥२॥

निरु च्यते--निर्वचनगोचरीक्रियते ॥२॥  
पुनर्भडयन्तरेण तल्लक्षणमाह--

यद्वा मार्गाविरोधेन कर्मोच्छेदाय तप्यते ।  
अर्जयत्पक्षमनस्तोस्तत्पो नियमक्रिया ॥३॥

---

यहाँसे ग्रन्थकार सम्यक तप आराधनाका उपदेश करनेकी इच्छासे सर्वप्रथम यह शिक्षा देते हैं कि मुक्तिका प्रधान साधन वैतृष्य है । अतः उसकी सिद्धिके लिए सदा तप करना चाहिए--

यतः हेय उपादेयरूप वस्तुस्वरूपको जानकर भी वैतृष्यके बिना अनन्तज्ञानादिचतुष्टयके स्थानको प्राप्त नहीं होता । इसलिए उस वैतृष्यकी सिद्धिके लिए परीषह उपसर्ग आदिसे न धंबरानेवाले धीर पुरुषको नित्य तप करना चाहिए ॥१॥

विशेषार्थ--जिसने हेय-उपादेयरूपसे वस्तुस्वरूपको निर्णय कर लिया है वह भी वैतृष्यके बिनामुक्तिस्थानको प्राप्त नहीं कर सकता, फिर जिन्होंने तत्त्वको जाना ही नहीं है उनकी तो बात ही क्या है । जिसकी तृष्णा--चाह चली गयी है उसे वितृष्ण होता है । अर्थात् वीतराग, वीतद्वेष और क्षयिक थाक्ष्यात चारित्र्यसे सम्पन्न मुनि वितृष्ण होता है । वितृष्णके भावको अर्थात् वीतरागताको वैतृष्य कहते हैं ॥१॥

व्युत्पत्तिपूर्वक तपका लक्षण कहते हैं--

मन, इन्द्रियाँ और शरीरके तपनेसे अर्थात् इनका सम्यक रूपसे निवारण करनेसे सम्यग्दर्शन आदिको प्रकट करनेके लिए इच्छाके निरोधको तप कहते हैं ॥२॥

विशेषार्थ--तप शब्दकी निरुक्ति है मन, इन्द्रिय और कषायोका तपना अर्थात् इनकी पवृत्तियोंको अच्छी तरहसे रोकना । इसीके लिए तप किया जात है । और तपका लक्षण है इच्छाको रोकना और उस रोकनेका उद्येश्य है रत्नत्रयकी प्राप्ति ॥२॥

प्रकारान्तरसे तपका लक्षण कहते हैं--

अथवा रत्नत्रयरूप मार्गमे किसी प्रकारकी हानि न पहुँचाते हुए ज्ञानावरण आदिका या शुभ-अशुभ कर्मोंका निर्मूल विनाश करनेके लिए जो तपा जाता है अर्थात् इन्द्रिय और

नियमक्रिया--विहिताचरानिषिद्धपरिवर्जनविधानम् ॥३॥

पुनरपि शास्त्रान्तरप्रसिद्ध तपोलक्षणमन्वाख्याय तदभेदप्रभेदसूचनपुरस्सरं तदनुष्ठानमुपदिशंति--

संसारयतनान्निवृत्तिरमृतोपाये प्रवृत्तिश्च या  
तदवृत्त मतमौपचारिकमिहोद्योगोपयोगे पुनः ।  
निर्माय चरतस्तपरस्तदुभयं बाहय तथाभ्यन्तर  
षोढात्रानशनादि बाहयमितरत षोढैव चेतु चरेत ॥४॥

संसारयतनानुबन्धता तत्कारणाच्च मयादर्शनादित्रयात् । उक्तं च--

घस्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः ।  
बन्धस्य हेतवोन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥६ [ तत्त्वानु., ८ श्लो. ]  
घबन्धस्य कार्य संसारः सर्वदुःखप्रदोडिनाम ।  
द्रव्यक्षेत्रादिभेदेने स चानकविधं : स्मृत ॥६ [ तत्त्वान., ७ श्लो. ]

---

मनके नियमोका अनुष्ठान है--करने योग्य आचरणको करनेका और न करने योग्य आचरणको न करनेका जो विधन है इसीका नाम तप है ॥३॥

विशेषार्थ--पूजयपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धि टीकामे तपका अर्थ यही किया है कि जो कर्मोंकेक्षयके लिए तपा जये वह तप है । धूप आदिमे खडे होकर तपस्या करनेका भी उद्येश्य कर्मोंकी निर्जरा ही है किन्तु उसकेसाथमे इन्द्रिय और मनका निरोध आवश्यक है । उसकेबिना बाहय तप व्यर्थ है ॥३॥

फिर भी अन्य शास्त्रामे प्रसिद्ध तपका लक्षण कहकर उसके भेद-प्रभेदोंकी सूचनाके साथ उसको पालनेका उपदेश देते है--

संसारके कारासे निवृत्ति और मोक्षके उपायमे जो प्रवृत्ति है वह औपचारिक अर्थात् व्यावहारिक चारित्र है । तथा मायाचारको छोडकर साधु इस औपचारिक चारित्रमे जो उद्योग करता है और उसमे अपना उपयोग लगाता है वह भगवती आराधना शास्त्रके उपदेशानुसार तप है । उस तपके दो भेद है-- बाहय और आभ्यन्तर । अनशन आदि छह बाहय तप है और छह ही अभ्यन्तर तप है । अीयन्तर तपको बढानेकेलिए ही बाहय तप करना चाहिए ॥४॥

विशेषार्थ--द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन रूप संसारका कारण बन्ध है । यहाँ बन्धसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र लेना चाहिए, क्योंकि ये ही बन्धके कारण है अतः कारणमे कार्यका उपचार करके बन्धके कारणोंको बन्ध कहा है । कहा है-- घबन्धका कार्य संसार है, वह प्राणियोंको सब दुःख देता है । तथा वह द्रव्य क्षेत्र आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है ।६

संक्षेपमे बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है । अन्य सब इन्ही का विस्तार है । भगवती आराधनामे तपका स्वरूप इस प्रकार कहा है-- यह कर्तव्य है और

---

घ्कायव्वमिणमकायव्वं इदि णादूण होदि परिहारो ।

तं चेव हवदि णाणं तं चेव य होदि सम्मतं ॥

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउज्जणा य जा होदि ।

सो चेव जिणेहि तओ भणिओ असढ चरंतस्सड ॥--गा. ९-१० ।

अमृतोपाये--रत्नत्रये । औपचारिक--व्यावहारिकम् । बाहय--बाहयजनप्रकटत्वात् । अभ्यन्तर--  
अभ्यन्तरजनप्रधेनत्वात् । अनशनादि--अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान--रसरित्याग-विविक्ताय्यासन-  
कायक्लेशलक्षाम । इतरत--प्रयश्चित-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानलक्षणम् । चेतु--वर्ध् यितुम्  
॥४॥

अथानशनादेस्तपस्तेषु युक्तिमाह--

देहाक्षतपनात्कर्मदहनादान्तरस्य च ।

तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोनशनादिकम् ॥५॥

स्पष्टम् ॥५॥

अथानशनादितपसो बाहयत्वे युक्तिमाह--

बाहयं वल्भाद्यपेक्षत्वात्परप्रत्यक्षभावतः ।

परदर्शनिषण्डिगोहिकार्यत्वतश्च तत् ॥६॥

बाहयं बाहयद्रव्यापेक्षत्वात् बाहयानां प्रत्यक्षत्वात् बाहयैः क्रियमाणत्वाच्च । एतदेव वल्भादि  
इत्यादिना स्पष्टीकरोति स्म ॥६॥

---

यह अकर्तव्य है ऐसा जानकर अकर्तव्यका त्याग करना चारित्र है । वही ज्ञान है और वही सम्यग्दर्शन है ।  
उस चारित्रमे जो उद्योग और उपायोग होता है, उसीको जिन भगवानने तप कहा है । अर्थात् चारित्रमे  
उद्योग करना और उसमे उपयोग लगाना ही तप है ।

इस तपके दो भेद है--बाहय और अभ्यन्तर । बाहय तपके छह भेद है--अनशन, अवभैदर्य,  
वृत्तिपरिसंख्यात्, रसपरित्याग, विविक्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान बाहय तप अभ्यन्तर तपको बढानेके  
लिए ही किया जाता है ।

कहा है--हे भगवन, आपने आध्यात्मिक तपको बढानेकेलिए अत्यन्त कठोर बाहय तप किया ।

आगे अनशन आदि क्यो तप है इसमे युक्ति देते है--

अनशन आदि करनेसे शरीर और इन्द्रियोका दमन होता है, अशुभं कर्म भस्म होते है और  
अन्तरंग तपमे वृद्धि होती है इसलिए अनशन आदि तप है ॥५॥

अनशन आदि बाहय तप क्यो है इसमे युक्ति देते है--



अनशन आदि तपोको तीन कारणोसे बाहय कहा जाता है--प्रथम, इनके करनेमे बाहय द्रव्य भूनादिकी अपेक्षा रहती है। जैसे भोजनको त्यागनेसे अनशन होता है, अल्प भोजन लेनेसे अवमौदर्य होता है। दूसरे, अपने पक्ष और परपक्षके लोग भी इन्हे देख सकते है कि अमुक साधुने भोजन नही किया या अल्पभोजन किया। और तीसरे, ये तप ऐसे है कि जिन्हे अन्य दार्शनिक, बौद्धादि तथं कापालिक आदि साधु और गृहस्थ भी करते है। इसलिए इन्हे बाहय तप कहा है ॥६॥

अथ बाहयतपसं: फलमाह--

कर्माडतेजोरागाशाहानिध्यानादिसंयमाः ।

दुःखक्षमासुखसडब्रम्होद्योताश्च तत्फलम ॥७॥

कर्माडतोजोहानिः--कर्मणा ज्ञानावरणादीनामडतेजसश्च देहदीप्तेर्हानिरपकर्षः । अथवा कर्माडाणा हिसादीना तेजसश्च शुक्रस्य हानिरिति ग्रहयम । ध्यानादि--आदिशब्दात् स्वाध्यायारोग्य-मार्गप्रीवना-कषायमदमथन-परप्रत्ययकरा-दयुपकारतीथारयतनस्थांपनादयो ग्राह्याः । उक्तं च--

विदितार्थशक्तिचरित कायेन्द्रियपापशोषं परमम ।

जातिजरामहरणहरं सुनाकमोक्षाश्च (-यं सुतप) ॥ [ ] ॥७॥

बाहयस्तपोभिः कायस्य कर्शनादक्षमर्दने ।

छिन्नबाहो भट इव विक्रमति कियन्मनः ॥८॥

(तपस्यता) भोजनादिक तथं प्रयोक्तव्य यथा प्रमादो न विजृम्भत इति शिक्षर्थमाह--

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधन तदस्य यस्ते स्थितयेशनादिना ।

तथं यथाक्षणि वशे स्युरु त्पथं न वानुधावन्त्यनुबध्दतृडवाशात ॥९॥

अनशनादिना--भोजनशयनावस्थादिना । उत्पथ--निषिध्दाचराम । अनुबध्दतडवशात--अनादिसम्बध्दतृष्णापारतन्त्र्यात । उक्तं च--

घ्वशे यथं स्युरक्षाणि नोतधावन्त्यथनूत्पथम ।

तथं प्रयतितव्य स्यादवृत्तिमाश्रित्य माध्यमाम ॥ड [ ] ॥९॥

---

बाहय तपका फल कहते है--

अनशन आदि करनेसे ज्ञानावरण आदि कर्मोकी, शरीरके तेजकी, रागक्षेपकी और विषयोकी आशाकी हानि होती है, उसमे कमी आती है, एकाग्रचिन्तानिरोध रूप शुभध्यान आदि और संयम होते

है, दुःखको सहनेकी शक्ति आती है, सुखमे आसक्ति नही होती, आगमकी प्रभांवना होती है अथवा ब्रम्हचर्यमे निर्मलता आती है। ये सब बाहय तपके फल है ॥७॥

विशेषार्थ--ध्यानादिमे आदि शब्दसे स्वाध्याय, आराग्य, मार्ग प्रीवना, कषाय, मद आदिका घटना, दया, दूसरोका विशवस प्राप्त होना आदि लेना चाहिए। कहा है--सम्यक तपका प्रयोजन, शक्ति औश्र आचरण सर्वत्र प्रसिध्द है। यह तप शरीर इन्द्रिय और पापका परम शोषक हैः, जन्म, जरा और मरणको हरनेवाला है तथा स्वर्ग और मोक्षका आश्रय है।

आगे कहते है कि बाहय तप परम्परासे मनको जीतनेका कारण है--

जैसे धोडके मर जानेपर शूरवीरका भी शेर्य मन्द पड जाता है वैसे ही बाहय तपोके द्वारा शरीरके कृश होनेसे तिा इन्द्रियोके मानका मर्दन होनेपर मन कहीं तक पराक्रम कर सकता है क्योकि इन्द्रियो मनके धोडकेके समान है ॥८॥

आगे शिक्षा देते है कि तप करते हुए भोजन आदि इस प्रकार करना चाहिए जिससे प्रमाद बढने न पावे--

आगममे कहा है कि शरीर रत्नत्रयरू पी धर्मका मुख्य कारण है। इसलिए भोजन-पान आदिके द्वारा इस शरीरकी स्थितिके लिए इस प्रकारका प्रयन्त करना चाहिए जिससे इन्द्रियो वशमे रहे और अनादिकालेसे समबध्द तृष्णाके वशीभूत ठेकर कुमार्गकी ओर न जावे ॥९॥

---

अतोग्रके लिपिकारेणष्टमो श्लोको विस्मृत ति पतिभांति।

अथेष्टमृष्टाद्याहारोपयोगे दोषमाह--

इष्टमृष्टोत्कटरसैराहारैरू ध्दटीकृताः।

यथेष्टामिन्द्रियभटा भ्रमयन्ति बहिर्मनः ॥१०॥

बहिः--बाहयाथेषु। उक्तं च--

न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः।

नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनैः ॥ [ ] ॥१०॥

अथानशनं तपः सभेदं लक्षयति--

चतुर्थाद्यर्धवषन्ति उपवासोथवामृतेः।

सकृदभुक्तिश्च मुक्त्यर्थं तपोनशनमिष्यते ॥११॥

चतुर्थादीत्यादि--आहोरात्रमध्ये किल द्वे भक्तबेले । तत्रैकस्या भोजनमेकस्या च तत्यागः । एकभक्तं--धारणकदिने पारणकदिने चैकभक्तमिति द्वयोर्भक्तवेलयो भोजनत्योगो द्वयोश्चोपवासदिने तत्याग इति चतस्त्रसु भक्तवेलासु चतुर्विधाहारापरिहाश्चतुर्थ इति रू ढः । एकोपवास इत्यर्थः । एवं षट्सु भक्तवेलासु भोजनत्यागः षष्ठो वा(द्वौ) उपवासौ । अष्टासु अष्टमस्त्रय उपवासाः । दशसु दशमश्चत्वार उपवासाः । द्वादशसु द्वादशः पच्चेपवासाः । एवं चतुर्थ आदिर्यस्य षष्ठाद्युपवासस्य चतुथादिः । अर्धवर्ष षण्मोसाः । तद्विषयत्वादुपवासोप्यर्धवर्षमुच्यते । अर्शवर्ष षण्मासोपवासोन्तःपर्यन्तो यस्य सोर्धवर्षिनः । चतुर्थादिश्चासावर्धवर्षान्तश्च चतुर्थाद्यर्धवर्षन्त उपवासः क्षपण सकृदभुक्तिश्चैकभक्तम । इत्येवमवधृतकालमनशनं तप इष्यते । यः पुनरामृतेर्मरण यावदुपवास्तदनवधृतकालम । इत्यनशनं तपो द्विधत्र सतित्र प्रतिपत्त्यम । उक्तं च ।

अपनेको रू चिकर स्वादिष्ट आहारकेदोष कहते है--

इन इन्द्रियरू पी वीरोको यदि इष्ट, मिष्ट और अत्यन्त स्वादिष्ट आहारसे अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया जाता है तो ये मनको बाह्य पदार्थोंमें अपनी इच्छानुसार भ्रमण कराती है ॥१०॥

विशेषार्थ--उक्त समस्त कथनका सारांश यही है कि भोजनका और इन्द्रियोका खास सम्बन्ध है अतः साधुका भोजन इतना सात्त्विक होना चाहिए जिससे शरीररू पी गाडी तो चलती रहे किन्तु इन्द्रियाँ बलवान न हो सके। अतः कहा है--मध्यम मार्गको अपनाकर जिससे इन्द्रियाँ वशमें हो और कुमार्गकी ओर न जाये ऐसा प्रयत्न करना चाहिए । तथा--ध्मुमुक्षुओको न तो मात्र इस शरीरको सुखा डालना चाहिए और न मीठे रू चिकर और अति रसीले भोजनोसे इसे पुष्ट ही करना चाहिए ॥१०॥

आगे भेदसहित अनशन तपको कहते है--

मुक्ति अर्थात् कर्मक्षयके लिए चतुर्थ उपवाससे लेकर छह मासका उपवास करना, अथवा मरणपर्यन्त उपवास करना तथा एक बार भोजन करना अनशन नामक तप माना गया है ॥११॥

विशेषार्थ--दिन-भरमें भोजनकी दो वेलाएँ होती है । उनमें-से एकमें भोजन करना एक भक्त है । उपवाससे पहले दिनको धारणाका दिन कहते है और उपवास समाप्त होनेसे अगले दिनको पारणाका दिन कहते है । धारणा और पारणाकेदिन एक बार भोजन करनेसे दो भोजन वेलाओमें भोजनका त्याग करनेसे और उपवासके दिन दो वेला भोजनका त्याग करनेसे इस तरह चार भोजन वेलाओमें चार प्रकारके आहारके त्यागको चतुर्थ कहते है । अर्थात् एक उपवास । इसी तरह छह भोजन वेलाओमें भोजनकेत्यागको षष्ठ या दो

अध्दानशनं सर्वानशनं द्विविकल्पमनशनमिहोक्तम ।

विहतिभृतोद्धनशनं सर्वानशनं तनुत्यागे ॥३॥

एकोपवासमूलः षण्मासक्षपणपश्चिमः सर्वः ।

अध्दानशनविभागं स एष वाच्छानुगं चरतः ॥३॥ [ ]

चशब्दो मध्यमजघन्योपवाससमुच्चयार्थः । नको निषेधे ईषदर्थे च विवक्षितत्वात्, तेनानशनस्य भाव ईषदनशनं वानशनमिति रू ढम । मुक्त्यर्थमिति कर्मक्षयार्थ इष्टफलमंत्रासाधनाद्यनुद्दिश्येत्यर्थः । यच्च दण्डकाचारादिशास्त्रेषु संवत्सरातीतमप्यनशनं श्रूयते तदप्यर्धं च वर्षं चेत्यर्धवर्षे इत्येकस्य वर्षशब्दस्य लोपं कृत्वा व्याख्येयम् ॥११॥

अथोपवासस्य निरू क्तपूर्वक लक्षणमाह--

स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनाल्लयात् ।

उपवासोशनस्वाद्यखाद्यपेयविवर्जनम् ॥१२॥

स्वार्थात्--निजनिजविषयात् । उक्तं च--

छउपेत्याक्षणि सर्वाणि निवृत्तनि स्वकार्यतः।

वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरु पवासोभिधीयते ॥३ [ अमित. श्रा, १२।११९ ]

---

उपवास कहते हैं । आठ वेलाओमें भोजनके त्यागको अष्ट या तीन उपवास कहते हैं । दस वेलाओमें भोजनके त्यागको दसम या चार उपवास कहते हैं । बारह वेलाओमें भोजनके त्यागको द्वादश या पाँच उपवास कहते हैं । इस प्रकार चतुर्थसे लेकर षट्मासका उपवास अनशन तप है । इसे अवधृतकाल अनशन तप कहते हैं और मरणपर्यन्त भोजनके त्यागको अनवधृतकाल अनशन तप कहते हैं । इस तरह अनशन तपके दो भेद हैं । कहा है--घ्यहो अनशनके दो भेद कहे हैं--एक अध्वानशन और एक सर्वानशन । विहार करनेवाले साधु अध्वानशन करते हैं और शरीर त्यागनेवाले सर्वानशन करते हैं । अर्थात् कालकी मार्यादापूर्वक चार प्रकारके आहारका त्याग अध्वानशन है और मरणपर्यन्त त्याग सर्वानशन है । एक उपवास प्रथम अध्वानशन है और छह मासका उपवास अन्तिम अध्वानशन है । एक उपवाससे लेकर छह मासके उपवासपर्यन्त सब अध्वानशनके भेद हैं । यह इच्छानुसार किया जाता है"न अशनको अनशन कहते हैं । यहाँ न निशेधके अर्थमें भी है और थोड़ेके अर्थमें भी है । इसलिए अशनके न करनेको या अल्प भोजनको अनशन कहते हैं । यह अनशन तभी तप है जब कर्मक्षयके लिए किया जाये । मन्त्र साधन आदि लौकिक फलके उद्येशसे किया जानेवाला अनशन तप नहीं है । कुछ शास्त्रोंमें एक वर्षसे अधिकका भी अनशन सुना जाता है अतः अर्धवर्षन्तका अर्थ और वर्षं ऐसा कर लेना चाहिए ।

उपवासका निरू क्त पूर्वक लक्षण कहते हैं--

अपने-अपने विषयोसे हटकर इन्द्रियोके राग-द्वेषसे रहित आत्मस्वरूपमें बसने अर्थात् लीन होनेसे अशन स्वाद्य, खाद्य, और पेय चारों प्रकारके आहारका विधिपूर्वक त्यागना उपवास है ॥१२॥

विशेषार्थ--उपवास शब्द उप और वास दो शब्दोंके मेलसे बना है । उसका अर्थ है आना अर्थात् इन्द्रियोका अपने-अपने विषयोसे हटकर आना और वासका अर्थ है बसना,

---

१. घशब्दादिग्रहण प्रतिनिवृत्तौत्सुक्यानि पच्चापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः,  
चतुर्विधाहारपरित्यागः- -सर्वार्थसि., ७।२१।

परे त्वेवमुः--

छउपावृत्तस्य दोषेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ।  
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः [ ] ॥१२॥

अथनशनादीना लक्षणमाह--

ओदनाद्यशनं स्वाद्यं ताम्बूलादि-जलादिकम् ।  
पेयं खाद्यं त्वपूपाद्यं त्याज्यान्येतानि शक्तितः ॥१३॥

उक्तं च--

घमुदगौदनाद्यमशनं क्षीरजलाद्यं मतं जिनैः पेयम् ।  
ताम्बूलदाडिमाद्यं स्वाद्यं खाद्यं त्वपूपाद्यम् ॥३॥

अपि च--

घ्राणानुग्राहि पानं स्यादशनं दमनं क्षुधः ।  
खाद्यते यत्नतः खाद्यं स्वाद्यं स्वादोपलक्षितम् ॥३॥ [ ] ॥१३॥

अथोपवासस्योत्तमादिभेदात् त्रिप्रकारस्यापि प्रचुरदुष्कृताशुनिर्जराडत्वाद्यथाविधि-विधेयत्वमाह--

उपवासो वरो मध्यो जघजन्यश्च त्रिधापि सः ।  
कर्यो विरक्तैर्विधिवदबहागः क्षिप्रपाचनः ॥१४॥

आगः--पापम् ॥१४॥

---

लीन होना अर्थात् आत्मामे जीन होना । इसीको उपवास कहते हैं । कहा है--घजिसमे सब इन्द्रियाँ अपने-  
अपने विषयोसे निवृत्त होकर बसती हैं उसे विद्वान उपवास कहते हैं ।

उसका अर्थ जो चार प्रकारके आहारका त्याग लिया जाता है, उसका कारण यह है कि आहार न  
मिलनेसे सब इन्द्रिया म्लान हो जाती है । वास्तवमे तो इन्द्रियोका उपवासी होना ही सच्चा उपवास है

और इन्द्रियों तभी उपवासी कही जायेगी जब वे अपने विषयको ग्रहण न करे उधरसे उदासीन रहे ।  
उसीकेलिए चारो प्रकारकेआहारका त्याग किया जाता है ।

अन्य धर्मांमे उपवासकी निरू क्ति इस प्रकार की है--दोषेसे हटकर जो गुणोकेसाथ बसना है उसे  
उपवास जानना चाहिए । उपवासमे समस्त भोगोका त्याग होता है ॥१२॥

अशन आदिका लक्षण कहते है--

भांत-दाल आदि अशन है । पान-सुपारी आदि स्वाद्य है । जल, दूध आदि पेय है । पूरी, लड्डू  
आदि खाद्य है । इनको शक्तिकेअनुसार छोडना चाहिए ॥१३॥

विशेषार्थ--अन्यत्र पान आदिका स्वरू प इस प्रकार कहा है--जो प्राणोपर अनुग्रह करता है, उन्हे  
जीवन देता है वह पान या पेय है । जो भूखको मिटाता है वह अशन है । जो यत्नपूर्वक खाया जाता है  
वह खाद्य है और जो स्वादयुक्त होता है वह स्वाद्य है ॥१३॥

उत्तम आदिके भेदसे तीन प्रकारका भी उपवास प्रचुर पापोकी शीघ्र निर्जरामे कारण है । अतः  
उसको विधिपूर्वक पालनेका उपदेश देते है--

उत्तम, मध्यम और जधन्ये भेदसे तीनो भी प्रकारका उपवास प्राणीसंयम और इन्द्रिसंयमके  
पालकोंको शास्त्रोक्त विधनकेअनुसार कना चाहिए । क्योकि वह शीघ्र ही बहुत-से पापेकी निर्जराका  
कारण है ॥१४॥

अथोत्तमादिभेदानां लक्षणन्याह--

धारो पारणे सैकभक्तो वर्यश्चतुर्विधः ।

साम्बुर्मध्योनेकभक्तः सोधर्मस्त्रिविधावुभौ ॥१५॥

चतुर्विधः--चतुर्विधसंज्ञक उपवासः । साम्बुः--सपानीयः, धारणे पारणे सैकभक्त इत्येवम ।  
अनेकभक्तः--धारणे पारणे चैकभक्तरहितः साम्बुरित्येवम । त्रिविधौऽत्रिविधसंज्ञौ । उक्तं च--

ध्वतुर्णा तत्र भुक्तीनां त्यागे वर्यश्चतुर्विधः ।

उपवासः सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मतः ॥६

ध्भुक्त्तयपरित्यागे त्रिविधो गदितोधमः ।

उपवासस्त्रिधाप्येषः शक्तित्रियसूचकः ॥६ [ अमित. श्रा. १२।१२३-१२४ ] ॥१५॥

अथाशक्तितो भोजनत्यागे दोषमाह--

यदाहरमयो जीवस्तदाहारविराधितः ।

नार्तरौद्रातुरो ज्ञाने रमते न च संयमे ॥१६॥

आहरमयः--आहारेण विलखन्निर्वृत इव । द्रव्यप्रार्प्रिधान्नोत्र प्राणि । आहरविराधितः--भोजनं  
हठात्याजितः ॥१६॥

एतदेव भडयन्तरेणाह--

उपवासके उत्तम आदि भेदोका लक्षण कहते हैं--

धारणा और पारणाके दिन एक बार भोजनके साथ जो उपवास किया जाता है वह उत्तम है ।  
उसका नाम चतुर्विध है । धारणा और पारणाके दिन एक बार भोजन करके जिस उपवासमे केवल जल  
लिया जात है वह मध्यम है । तथा धारणा और पारणाके दिन दोनो बार भोजन करनेपर भी जिस  
उपवासमे केवल जल लिया जात है वह अधम है । इन मध्यम और अधमका नाम त्रिविध है ॥१५॥

विशेषार्थ--भगवती आराधनामे (गा.२०९) अनशनके दो भेद किये हैं--अधदानशन और सर्वानशन ।  
संन्यास धारण करनेपर जो जीवनपग्रन्तके लिए अशनका त्याग किया जाता है वह सर्वानशन है और कुछ  
कालके लिए अशनके त्यागको अधदानशन कहते हैं । अचार्य अमितगतिने इसके उत्कृष्ट, मध्यम और  
जघन्य भेद है । यथा चारो प्रकारके आहारका त्याग चतुर्विध नामक उत्तम उपवास है । पानी सहित  
उपवास त्रिविध नामक मध्यम उपवास है । अर्थात् धारणा और पाराके दिन एक बार भोजन करे और  
उपवासके दिन केवल एक बार जल लेवे यह मध्यम त्रिविध नामक उपवास है । तथा धारणा और  
पारणाके दिन अनेक बार भोजन करके भी उपवास के दिन भी केवल जल ले तो यह अधम त्रिविध उपवास  
है । शक्तिके अनुसार उवास करना चाहिए । श्वेताम्बर परम्परामे भी अनशनके यावज्जीवक तथा चतुर्थ  
भक्त आदि भेद है ॥१५॥

बिना शक्तिके भोजन त्यागनेमे दोष बतलाते हैं--

यतः प्राणी आहारमय है अर्थात् मानो आहारसे ही वह बना है । इसलिए आहार छुडा देनेपर उसे  
आर्त और रौद्रध्यान सताते हैं । अतः उसका मन न ज्ञानम लगात है और न संयममे लगता है ॥१६॥

इसी बातको दूसरी तरहसे कहते हैं--

प्रसिद्धमन्नं वै प्राणा नृणां तत्याजितो हठात् ।

नरो न रमते ज्ञाने दुर्ध्यानीर्तो न संयमे ॥१७॥

स्पष्टम ॥१७॥

अथ दीर्घ सत्यायुषि नित्यनैमित्तिकाश्चोपवासान यथाशक्ति विधाय तच्छेषमनेनैव नयेदिति  
शिक्षार्थमाह--

तन्नित्यनैमित्तिकभुक्तिमुक्ति-

विधीन यथाशक्ति चरन विलडध्य ।

दीर्घ सुधीर्जीवितवर्त्म युक्त-

स्तच्छेषमत्ये त्वशनोज्जयैव ॥१८॥

नित्या--लुच्चाद्याश्रयाः । नैमित्तिकाः--कनकावल्याद्याश्रयाः । एतेषा लक्षणं टीकाराधनायां बोध्यम  
। युक्तः--समाहितः सन । अशनोज्जया--अनशनेन  
भक्तप्रत्याख्यानेडिनीप्रयापगमनमरणानामयतमेनेत्यर्थः । ॥१८॥

अथानशनतपसि प्ररोचनामुत्पादयन्नाह--

प्राच्चः केचिदिहाप्युपोष्य शरदं कैवल्यलक्ष्म्यारू चन

षण्मासानशनान्तवश्यविधिना तां चक्रुरत्कां परे ।

इत्यालम्बितमध्यवृत्त्यनशनं सेव्यं सदार्थैस्तनुं

तप्ता शुध्दयति येन हेम शिखिना मूषामिवात्मावसन ॥१९॥

प्राच्चः--पूर्वपुरु षाः । केचित्--बाहुबल्यादयः । शरदंइसंवत्सरं यावत् । पुरे--पुरु देवादयः ।  
शुध्दयति--द्रव्यभांवकर्मभ्या किट्टकालिकाभ्यां च मुच्यत इत्यर्थः ॥१९॥

मनुष्योका प्राण अन्न ही है यह कावत प्रसिध्द है । जबरदस्ती उस अन्नको छुडा देनेपर खोटे  
ध्यानमे आसक्त मनुष्य न ज्ञानमे ही मन लगाता है और न संयममे मन लगाता है ॥१७॥

आगे यह शिक्षा देते है कि यदि आयु लम्बी हो तो यथाशक्ति नित्य-नैमित्तिक उपवास करके शेष  
आयुको उपवासपूर्वक ही बितोव--

यतः सिध्दान्तमे अनशन तपके गुण उक्त रू पसे कहे है अतः बुध्दिमान साधुको शक्तिके अनुसार  
भोजनको त्यागनेके जो नित्य और नैमित्तिक विधियाँ है उन्हे पालते हुए लम्बे जीवनके मार्गको बितावे ।  
उसके शेष भागको भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण या प्रायोपगमन-मरामे-से किसी एक अनशनके द्वारा ही  
बितावे ॥१८॥

विशेषार्थ--वेशलोच आदिके दिन मुनिको उपवास करनेका जो नियम है वह नित्यविधि है । तथा  
कनकावली, सिहनिष्कीडित आदि जो अनेक प्रकारके व्रत कहे है वे नैमित्तिक है । जिनसेनके  
हरिवंशपुराणक ३४वे अध्यायमे उनका स्वरू प कहा है ॥१८॥

अनशन तपमे विशिष्ट रू चि उत्पन्न कराते है--

इसी भरत क्षेत्रमे बाहुबली आदि कुछ पूर्वपुरु ष एक वर्ष तक उपवास करके केवलज्ञानरू प  
लक्ष्मीसे सुशोभित हुए । दूसरे भगवान ऋषभदेव वगैरहने चतुर्थभक्त उपवाससे लेकर छह महीनेके



उपवासरू प वशीकरण प्रयोगके द्वारा ही उस केवलज्ञानरू प लक्ष्मीको उत्कण्ठित कर लिया । इसलिए मुमुक्षुओको सदा मध्यमवृत्तिका आलम्बन लेकर अनशन करना चाहिए

---

मनशानेनैव भ. कु. च. ।

अथ स्वकारचतुष्टयादुध्वन्तीमाहारसंज्ञामाहारादिदर्शनादिपतिपक्षभावनया निगृहीयादित्यनुशास्ति--

भुक्त्यालोकोपयोगाभ्यां रिक्तकोष्ठतयासतः ।

वैद्यस्योदीरणाच्चान्नसंज्ञामभ्युद्यती जयेत ॥२०॥

भुक्त्यालोकापयोगाभ्या--आहारदर्शनेन तदुपयोगेन च । आहारं प्रति मनःपणिधानेनेत्यर्थः ।

असतः--असातसंज्ञस्य ॥२०॥

अथनशनपोभावनाया नियुडक्ते--

शुद्धस्वात्मरू चिस्तमीक्षितुमक्षिप्यावर्ग भजन

निष्ठासौष्टवमडनिर्ममतया दुष्कर्मनिर्मूलनम ।

श्रित्वाब्दानशनं श्रुतार्पितमनास्तिष्ठन धृतिन्यक्कृत-

द्वन्द्वः कर्हि लभेय दोर्बलितुलामित्यस्त्वनान्वांस्तपन ॥२१॥

अपक्षिप्य--विषयेभ्यो व्यावृत्य । श्रित्वा--प्रतिज्ञाय । तिष्ठन--उद्धःसन । धृतिन्यक्कृतद्वन्द्वः--धृतिः आत्मस्वरू पधारणं स्वरू पविषया प्रसर्त्वि । तथा न्यक्कृतानि अभिभूतानि द्वन्द्वानि परीषहा येन । कर्हि लभेय--कदा प्राप्नुयामहम । दोर्बलितुला--बाहुबलिकक्षाम । तच्चर्या आर्षे यथा--

गुरोरनतमतोधीती दधदेकविहारताम ।

प्रतिमायोगमावर्षमातस्थे किल संवृतः ॥

स शंसितव्रतोनाश्वान वनवल्लीततान्तकः ।

वल्मीकरन्धनिःसर्पत सर्पेरासीद भयानकः ॥ [ महापु. ३६।१०६-१०७ ]

इत्यादि प्रबन्धेन । अनाश्वान--अनशनव्रतः ॥२१॥

---

जिससे तप्त हुए शरीरमे रहनलेवाला आत्मा आगसे तपी हुई भूषामे रखे हुए स्वर्णकेसमान शुद्ध हो जाता है । अर्थात् जैसे स्वर्णकारकी मूषामे रखा हुआ स्वर्ण आगकी गर्मीसे शुद्ध हो जाता है वैसे ही शरीरमे स्थित आत्मा अनशन तपकेप्रभांसे शुद्ध हो जाता है ॥१९॥

आगे चार कारणोंसे उत्पन्न होनेवाली आहारसंज्ञाका प्रतिपक्ष भावनासे निग्रह करनेका उपदेश देते हैं--

भोजनको देखनेसे, भोजनकी ओर मन लगानेसे, पेटके खाली होनेसे तथा असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेसे उत्पन्न होनेवाली भोजनकी अभिलाषाको रोकना चाहिए ॥२०॥

विशेषार्थ--आगममे आहारसंज्ञाके ये ही चार कारण कहे हैं--आहारके देखनेसे, उसकी ओर मन लगानेसे, पेटके खाली होनेसे तथा असातावेदनीयकी उदीरणा होनेसे आहारकी अभिलाषा होती है ॥२०॥

अनशन तपकी भावानामे साधुओंको नियुक्त करते हैं--

शुद्ध निज चिद्रूपमे श्रद्धारतु होकर, उस शुद्ध निज आत्माका साक्षात्कार करनेके लिए, स्पर्शन आदि इन्द्रियोंको विषयोसे हटाकर चारित्रका सुचारु तासे पालन करते हुए, शरीरसे ममत्वको त्यागकर, अशुभ कर्मोंकी निर्जरा करनेवाले एक वर्षके उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर, श्रुतज्ञानमे मनको लगाकर, खड़ा होकर, आत्मस्वरूपकी धारणाकेद्वारा परीषहको निरस्त

---

घआहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोटाए ।

वेदस्सुदीरणाए आहारे जायदे साड ।--गो. जीव. १३५ ।

अथावमौदर्यलक्षणं फलं चाह--

ग्रासोश्रावि सहस्त्रतन्दुलमितो द्वात्रिंशदेतेशनं

पुसो वैश्रसिक स्त्रियो विचतुरास्तद्वानिरौचित्यतः ।

ग्रांस यावदथैक सिक्थमवमौदर्यं तपस्तच्चरे-

धर्मावश्यकयोगधातुसमतानिद्राजयाद्याप्तये ॥२२॥

अश्राविश्रावितः शिष्टैस्तेभ्यः श्रुतो वा । वैश्रसिक--स्वाभाविकम् । विचतुराः--विगताश्चत्वारो येषां ते, अष्टाविंशतिर्ग्रासा इत्यर्थः । औचित्यतः--एकोत्तरश्रेण्या चतुर्थादिभागत्यागाद्वा । उक्तं च--

द्वात्रिंशाः कवलाः पुंसः आहारस्तृप्तये भवेत् ।

अष्टाविंशतिरेवेष्टाः कवलाः किल योषितः ॥३॥

घत्स्मादेकोत्तरश्रेण्या यावत्कवलमात्रकम् ।

ऊनोदरं तपो हयेतद भेदोपीदमिष्यते ॥३॥ [ ]

अवमौदर्य--अतृप्तिभोजनम् । तपः--तपोहेतुत्वाद् यूनतापरिहारु पत्वात् । योगः--आतपनादिः सुध्यानादिश्च । धातुसमाता--वाताद्यवैषम्यम् । निद्राजयादि, आदिशब्देन इन्द्रियप्रद्वेषनिवृत्त्यादिः । उक्तं च--

धर्मावश्यकयोगेषु ज्ञानादावुपकारकृतम् ।

करके मै बाहुबलीके समान अवस्थाको कब प्राप्त करू गा, ऐसी भावनावाला अनशन तपका पालक होता है ॥२१॥

विशेषार्थ--स्वामी जिनसेनने बाहुबलीकी चर्याके सम्बन्धमे कहा है--गुरकी आज्ञासे एकाकी विहार करते हुए बाहुबली एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण करके स्थिर हो गये । प्रशंसनीय व्रती अनशन तपधारी बाहुबली वनकी लताओसे आच्छादित हो गये । बॉबीके छिद्रोसे निकलनेवाले सॉपो-से वे बडे डरावने लगते थे ॥२१॥

इस प्रकार अनशन तपका विस्तारसे कथन किया ।

अब अवमौदर्य तपका लक्षण और फल कहते है--

शिष्ट पुरु षोसे सुना है कि एक हजार चावलका एक रास होता है । पुरु षका स्वाभाविक भोजन ऐसे बत्तीस ग्रास है और स्त्रीका स्वाभाविक भोजन उससे चार ग्रास कम अर्थात् अठ्ठाईस ग्रास है । उसमे-से यथायोग्य एक-दो-तीन आदि ग्रासोको घटाते हुए एक ग्रास तक अथवा एक चावल तक ग्रहण करना अवमौदर्य तप है । यह तप उत्तम, क्षमा आदि रूप धर्मकी, छह आवश्यकोकी, आतापन आदि योगकी प्राप्तिके लिए, वायु आदिकी विषमताको दूर करनेके लिए, निद्राको जीतने आदिके लिए किया जाता है ॥२२॥

विशेषार्थ--अवमौदर्य तपका स्वरूप अन्यत्र भी इसी प्रकार कहा है--बत्तीस ग्रास प्रमाण आहार पुरु षकी तृप्तिके लिए होता है और स्त्रीकी तृप्तिके लिए अठ्ठाईस ग्रास प्रमाण आहार होता है । उससे एक-दो-तीन आदिके क्रमसे घटाते हुए एक ग्रास मात्र लेना ऊनोदर तप है । ग्रासके अनुसार उसके भी भेद माने गये है ।

कही-कही ग्रास का प्रमाण मुर्गी के अण्डेके बराबर भी कहा है । यथा--मुर्गीके

कुक्कुटाण्डसमग्रासा द्वात्रिंशदोजनं मतम ।

तदेकद्वि त्रिभागोनमवमौदर्यमीर्यते ॥

अथ बहाशिनो दोषानाह--

बहाशी चरति क्षमादिदशकं दृष्यश्न नावश्यक-

न्यक्षूणान्यपनुपालनतयनुषजत्तन्द्रस्मोभिद्रवन ।

ध्यानाद्यर्हति नो समानयति नाप्यातापनादीन्वपुः

शर्मासक्तमनास्तदर्थमनिशं तत्स्यान्मिताशी वशी ॥२३॥

तमोभिद्रवन--मोहमभिगच्छन । समानयति--प्रत्यानयति सम्पूर्णीकरोति वा ॥२३॥

अथ मिताशनादिन्द्रियाणां प्रद्वेषाभाव वशवर्तित्व च दर्शयति--

नाक्षाणि प्रद्विषन्त्यन्नप्रति क्षयभयान्न च ।

दर्पात् स्वैर चरन्त्याज्ञामेवानूद्यन्ति भृत्यवत् ॥२४॥

अन्नप्रति--अन्नस्य मात्रया स्तोकाहारेण इत्यर्थः । उपवासादिन्द्रियाणां क्षयभयं स्यात् । अन्नप्रति  
इत्यत्र स्तोके प्रतिना इत्यनेन अव्ययीभावः । अज्ञामेवानु--आज्ञयैव सह । उद्यन्ति--उत्थानं कुर्वन्ति ॥२४॥

अथ मिताशिनो गुणविशेषमाह--

शमयत्युपवासोत्थवातपित्तप्रकोपजाः ।

रू जो तिाशी रोचिष्णु ब्रम्हवर्चसमश्नुते ॥२५॥

रोचिष्णु--दीपशेलम । ब्रम्हवर्चस--परमात्मतेजः श्रुतज्ञानं वा ॥२५॥

अथ वृत्तिपरिसंख्यानतपसो लक्षणं तदाचरणफल चोपदिशति--

---

अडे प्रमाण बत्तीस ग्रास भोजन माना है । उसमे एक या दो या तीन भाग कम करना अवमौदर्य है ।

इसके लाभ बतलाते हुए कहा है--यह ऊनोदर तप धर्म, आवश्यक, ध्यान और ज्ञानादिकी प्रप्तिके  
उपकारी होता है तथा इन्द्रियोके मदको दूर करता है ॥२२॥

बहुत भोजन करनेके दोष कहते है--

बहुत अधिक भोजन करनेवाला साधु प्रमादी होकर उत्तम, क्षमादि रू प दस धर्मोंको नही पालता,  
न आवश्यकको निर्दोष और सम्पूर्ण रू पसे पालता है । उसे सदा तन्द्रा सताती है, इसलिए मोहसे  
अभिभूत होकर ध्यान, स्वाध्याय वगैरह भी नही करता । शरीरिक सुखमे मनके आसक्त होनेसे  
आतापनयोग, वर्षायोग आदिको भी पूरा नही करता । इसलिए धर्मादिकी पूर्तिके लिए मुनिको सदा  
मितभोजी होना चाहिए ॥२३॥

आगे कहते है कि परिमित भोजन करनेसे इन्द्रियाँ अनुकूल और वशमे रहती है--

उपवासके द्वारा वात-पित्त कुपित हो जानेसे उत्पन्न हुए रोग अल्पाहरसे शान्त हो जाते है । तथा  
परिमितभोजी प्रकाशस्वभाव परमात्म तेजको अथवा श्रुतज्ञानको प्राप्त करता है ॥२४॥

मित भोजनके विशेषा गुण कहते है--

उपवासके द्वारा वात-पित्त कुपित हो जानेसे उत्पन्न हुए रोग अल्पाहारसे शान्त हो जाते है ।  
तथापरिमितभोजी प्रकाशस्वभाव परमात्म तेजको अथवा श्रुतज्ञानको प्राप्त करता है ॥२५॥

आगे वृत्तिपरिसंख्यान तपका लक्षण और उसका फल कहते है--

भिक्षुगोचरचित्रदातृचरणमत्रान्नसद्यादिगात

संकल्पाच्छमणस्य वृत्तिपरिसंख्यान तपोडस्थितिः ।

नैराश्याय तदाचरेन्नजरसासृग्मांससंशोषण-

क्षरेणेन्द्रियसंयमाय च परं निर्वेदमासेदिवान ॥२६॥

भिक्षेत्यादिभिक्षणाश्रितनानाविदायकादि-विषयमभिसमन्धिमाश्रित्य

यतेराहारग्रहण

वृत्तिपरिसंख्यानमित्याख्यायते इत्यर्थः । उक्तं च--

गोयरपमाणदायकभ्रायणणाणाविहाण जं गहणं ।

तह एसणस गहणं वि९विहस्स य वुत्तिपरिसंख्या ॥ [ मूलाचार, गा. ३५५ ]

भिक्षासे सम्बद्ध दाता, चलना, पात्र, अन्न, गृह आदि विषयक अनेक प्रकारके संकल्पसे श्रमणका शरीरके लिए वृत्तिकरना वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप है । यह तप आशाकी निवृत्तिके लिए और अपने शरीरके रस, रू धिर और मांसको सुखनेके द्वारा इन्द्रिय संयमके लिए संसार, शरीर और भोगोसे परम वैराग्यको प्राप्त मुमुक्षुको करना चाहिए ॥२६॥

विशेषार्थ--साधु जब भोजनके लिए निकलता है तो भिक्षासे सम्बद्ध दाता आदिके सम्बन्धमे कुछ संकल्प कर लेता है । जैसे--ब्राम्हण या क्षत्रिय आदि और वह भी वृद्ध या बालक या युवा हुआ, अथवा जूते पहने हो या मार्गमे खडा हो या हाथी पर चढा हो, या अन्य किसी प्रकारका दाता यदि आज मुझे पडगाहेगा तभी मैं ठहरूँ ग अन्यथा नहीं । इसी प्रकारका संकल्प स्त्रीके विषयमे भी जानना । इस प्रकार दाताविषयक अनेक संकल्प होते हैं । तथं जिस गलीसे जाऊँगा उसी गलीसे पीछे लोटनेपर यदि भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँ गा अन्यथानहीं । इसी तरह सीधी गलीसे या गोमूत्रके आकारवाली टेढी-मेढी गलीसे, या चौकोर आकारवाली गलीसे जानेपर भिक्षा मलेगी तो लूँगा । या अन्दर जानेसे लेकर बाहर निकलने तक यदि प्तंगोके भ्रमणके आकारमे या गोचरीके आकारमे भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँ गा । इस प्रकारके मार्ग विषयके अनेक संकल्प हैं । तथा यदि सुवर्णके या चॉदीके या मिटटीके पात्रसे भिक्षा देगा तो स्वीकार करूँ गा, अन्यथा नहीं । इस प्रकारके पात्रविषयक संकल्प है । तथायदि पिण्डभूत आहार या बहुत पतला पेय, या जौकी लपसी, या मसूर, चना, जौ आदि धान्य, अथवा शाक, कुल्माष आदिसे मिला हुआ भ्रांत य शाकके मध्यमे रखा हुआ भात, या चारो ओर व्यंजनके मध्यमे रखा हुआ अन्न, या व्यंजनके मध्यमे पुष्पावलीके समान रखाहुआ सिक्थक, अथवा शाक आदि व्यंजन मिलेगा तो भिक्षा लूँगा, अन्यथा नहीं । य जिससे हाथ लिप्त हो जये ऐसा कोई गाढा पेय या जे हाथको न लग सके ऐसा कोई खाद्य पेय, सिक्थक सहित पे या सिक्थक रहित पेय मिलेगा तो आहार ग्रहण करूँ गा, अन्यथा नहीं । ये अन्नविषयक संकल्प हे । तथं अमुक घरामे जाऊँगा या इतने घरामे जाऊँगा, इससे अधिकमे नहीं । ये अन्नविषयक संकल्प है । तथं अमुक घरामे जऊँगा या इतने घरामे जाऊँगा, अन्यथा नहीं । ये अन्नविषयक संकल्प है । आदि शब्दसे मुहल्ल आदि लिये जते हैं । यथ इसी मुहल्लेमे जाऊँगा । तथा अमुक घरके परिकर रू पसे लगी हुई भूमिमे जाकर भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँ गा । इसे कुछ निवसन कहते हैं । दूसरे कुछ ग्रन्थकार कहते हैं कि पाटक ( मुहल्ल ) की भूमिमे ही प्रवेश करूँ गा घरामे नहीं, इस प्रकारके संकल्पको पाटकनिवसन कहते हैं । अतः इन दोनोको ही ग्रहण

कर लेना चाहिए। तथा एक या दो ही भिक्षा ग्रहण करूँ गा, यह भिक्षाविषयक संकल्प है। तथा एक दाताके

तद्यां--ब्राम्हणः क्षत्रियादिर्वा सोपि वृद्धो बालयुवाद्यवस्थां वा सोपानत्को मार्गस्थो हस्त्याद्यारू ढोन्यथा वा यद्यद्य मा धरेत तदानी तिष्ठामि, नान्यथा। एवं स्त्रियामपि योज्यम्। एवंविधो बहुविधो दातृविषयसंकल्पः। तथा यया वीथ्या गच्छामि पूर्वं तथैव प्रत्यागच्छन् यदि भिक्षा लभेय तदा गृहीया नान्यथा। एवं प्राजलं वा गोचर्याकारं वा भ्राम्यन् यद्यद्य भिक्षा लभेय तदा गृहीयाम-- इत्यादिरनेकविधश्चरणविषयः। तथा यदि पिण्डभूतं द्रवबहुलतया पेयं वा यवागू वा मसूरचणकयवादिधान्यं वा शककुल्माषादिससृष्ट वा समन्ता दवस्थितशाकरमध्यावस्थितौदन वा परितः स्थितव्यज्जनमध्यस्थितान्न वा व्यजनमध्ये पुष्पावलीवदनस्थितसिक्थकं वा निष्पावाद्यमश्रिततान्न वा शाकव्यादिकं वा हस्तलेपकारि [-तदलेपकारि वा] वा निसिक्थ सासिक् वा पानकं वाद्याभ्यवरामि नान्यदित्यादिरन्नविषयः। तथा एतेष्वेतावस्तु वा गृहेषु प्रविशामि नान्युषु बहुषु इति सद्यविषयः। आदिशब्दात्पाटकादये गृहन्ते। तत्र इममेव पाटकं प्रविश्य लब्धा भिक्षा गृह्णामि नान्याम्। एकमेव पाटकं द्वयमेव वेति। तथा अस्य गृहस्य परिकरतायावस्थिता भूमि प्रविश्य गृह्णामि इत्यभिग्रहो निवसनमित्युच्यते इति केचिद वदन्ति। अपरे पाटकस्य भूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृहाणीति संकल्पः पाटकनिवसनमित्युच्यते इति कथयन्ति। तदुभयमपि च गृह्यते। तथा एका भिक्षा द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकामिति भिक्षापरिणामा तथा एकेनैवादीयमानं द्वाभ्यमेवेति वा दातृक्रियापरिमाणम्। आनीतायामपि भिक्षायामियत एव ग्रासानियन्त्येव व वस्तून्येतावन्तमेव कालमेतिस्मन्नेव काले गृह्णामीति वा परिमाणं गृह्यत इति। तदुक्तं--

घात्वा प्रतयागतमृजुविधिश्च गोमूत्रिका तथा पेटा।

शम्बूकावर्तविधिः पतडवीथी च गोचर्या ॥

पाटकनिवसन-भिक्षापरिमाण-दातृदेयपरिमाणम्।

पिण्डाशनपानाशनक्षिच्यवागूर्जतपशीतः (-गूर्जतयति स) ॥

संसृष्टफलकपरिखाः पुष्पोहतं च शुद्धकोपहतम्।

लेपकमलेपक पानकं च निःसिक्थकं ससिक्थं च ॥

पात्रस्य दायकादेवरग्रहो बहुविधः स्वसामर्थ्यात्।

इत्येवमनेकविधा विज्ञेया वृत्तिपरिसंख्या ॥६ [ भ. आ., गा. २१८-२२१ का रू पान्तर ]

॥२६॥

---

द्वारा या दो दातओके द्वारा दिया गया आहर ग्रहण करूँ गा। यह दातृक्रियाका परिमाण है। लायी हुई भिक्षामे-से इतने ही ग्रास लूँगा या इतनी ही वस्तु लूँगा या इतने काल तक ही लूँगा या अमुक कालमे लूँगा इस प्रकारका भी परिमाण किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परामे साधु पात्रमे भिक्षा ग्रहण करते है। अतः वृत्तिपरिसंख्यान तपमे वे नियम करते है कि एक बारमे या दो या तीन बारमे जिना देगा उतना ही लूँगा। हाथ से या करछुलसे उठाकर जो दिया जाता है उसे भिक्षा कहते है। उसकी भी गिनती गोचीरके

लिए जाते हुए कर ली जाती है। इस तरह साधु अभिग्रहको करके भिक्षाके लिए भ्रमण करता है। यह अभिग्रह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावेक भेदसे चार प्रकारका होता है। द्रव्यसे जैसे, सत्तू या कुल्माषमिश्रित अन्न या केवल भात या तक्र या आचाम्ल ग्रहण करूँगा। क्षेत्रसे जैसे, देहलीको दोनो जंघाओके मध्यमे करके भिक्षा लूँगा। कालसे--जब सब भिक्षा लेकर लौट आयेगे तब भिक्षा ग्रहण करूँगा। इस प्रकार कोई एक द्रव्यादिका अभिग्रह करके शेषका त्याग करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। ( तत्वार्थ टीका-- सिध्दसेन गणि ९।१९ ) ॥२६॥

---

१. देखे, भग. आरा., गा. २१८-२२१ की विजयोदया टीका।

अथ रसपरित्यागलक्षमार्थमाह--

त्यागः क्षीरदधीक्षुतैलह विषां षण्णां रसानां च यः

कार्त्स्न्येनावयवेन वा यदसन सूपस्य शकस्य च।

आचाम्लं विकटौदनं यददनं शुध्दौदनं सिक्थवद

रु क्षं शीतलमप्यसौ रसपरित्यागस्तपोनेकधा ॥२७॥

इक्षुः--गुडखण्डमत्स्यण्डिकादिः। हविः--धृतम। अवयवेन--एकद्वत्र्याद्यवच्छेदेन। असनं--वर्जनम। आचाम्ल--असंस्कृतसौवीरमिश्रम। विकटौदनं--अतिपक्वमुष्णोदकमिश्र वा। शुध्दौदनं--केवलभक्तम। सिक्थवत--सिक्थाढ्यमल्पोदकमित्यर्थः। अपिइश्रेष्ठानामिष्टरु परसगन्धस्पर्शपेतान परमान्न पानफलभक्षौषधादीना रु पबलवीर्यगृध्दिदर्पवर्धनाना स्वादूनामाहाराणा महारम्भप्रवृत्तितूनामनाहरणसंग्रहणार्थः ॥२७॥

अथ यः संविग्नः सर्वज्ञाज्ञादृढबध्ददरस्तपःसमाधिकाश्चम सल्लेखनोक्रमात् पूर्वमेव नवनीतादिलक्षणां श्चतस्त्रो महाविकृतीर्यावज्जीवं त्यक्त्वान स एव रसपरित्यागं वपुःसल्लेखनाकामो विशेषेणाभ्यसितुमर्हतीत्युपदेशार्थं वृत्तद्वयमाह--

---

---